

AS 256

धार्म

दर्शना

संस्कृति

लेखक

डॉ० रूप किशोर शास्त्री

१४.४

चर्च: २

उत्कर्ष प्रकाशन

१४.४
४६.२

117456

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

९४.४
-६६:२

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.....

आगत संख्या 1174.56

पुस्तक-दिवरण की तिथि नीचे अंकित है । इस तिथि सहित ३० वे दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

18 SEP 1996

43812

RENEWED

1-11-96



धार्म दर्शान् संस्कृति

117456

लेखक

डॉ० रूप किशोर शास्त्री



उत्कर्ष प्रकाशन

दिल्ली-११००६२

१४.५६
३३.२

प्रकाशक :

उत्कर्ष प्रकाशन

जी० ४, आर्यनगर,

प्लॉट न० ६१, पटपड़गंज, दिल्ली - ११००६२

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथम संस्करण - अक्तूबर, १९६५

मूल्य - रु० १६० पुस्कालय संस्करण

रु० ४० विद्यार्थी संस्करण

लैजर टाइप सेटिंग

नवेन्दु वी० शर्मा

करोल बाग, नई दिल्ली-५

दूरभाष : ५७८ ६३५६, ५७१ १६१५

मुद्रक :



विषय-सूची

संख्या	विषय प्राक्कथन	पृष्ठ पांच
--------	-------------------	---------------

प्रथम भाग

१.	संहिताएं	३
	ऋग्वेद	५
	यजुर्वेद	६
	सामवेद	७
	अथर्ववेद	८
२.	ब्राह्मण साहित्य	१०
३.	आरण्यक साहित्य	१३
४.	उपनिषद् साहित्य	१५
५.	यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय	१७
६.	सत्कार्यवाद	३४
७.	प्रमाण	३६
८.	पुरुष-सिद्धि	३८
९.	सांख्य का विकासवाद	४०
१०.	वैदिक वर्ण व्यवस्था	४३
११.	वर्ण व्यवस्था	४७
१२.	आश्रम व्यवस्था	५२

द्वितीय भाग

१३. सङ्गठन-सूक्त	५६
१४. सांमनस्य-सूक्त	६३
१५. केनोपनिषद्	७०
प्रथमः खण्डः	७०
द्वितीयः खण्डः	७८
तृतीयः खण्डः	८३
चतुर्थः खण्डः	६४
१६. योग की परिभाषाएं	१०२
१७. क्रिया योग	१०५
१८. अष्टाङ्ग योग	१०८
१९. सोलह संस्कार	११४

तृतीय भाग

२०. श्रद्धासूक्त	१२५
२१. दान सूक्त	१२६
२२. त्रैतवाद	१३८
२३. भारतीय संस्कृति-एक परिचय	१४२
वैदिक धर्म	१४२
जैन मत	१५०
बौद्ध मत	१५५
ईसाई मत	१६३
इसलाम मत	१६६

S 14.4.99:26



117456

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक "धर्म दर्शन संस्कृति" पर लिखा जाना मैं सुखद एवं उपयोगी इसलिए मानता हूँ क्योंकि उक्त विषय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। यह विश्वविद्यालय प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा संस्थापित एवं आर्यसमाज द्वारा संचालित है। महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य संसार को श्रेष्ठ बनाने पर बल देने एवं मूर्तरूप प्रदान करने के लिए वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करके निश्चित रूप से मानव कल्याण का रहा है। ढोंग, पाखण्ड, कुरीति निवारण, दबे पिछड़े व वंचितों को उनके अधिकार दिलाने, समानता लाने, गुरुकुल प्रणाली द्वारा शिक्षा का भेदभाव मिटाने तथा सत्य की स्थापना करने के लिए इस विश्वविद्यालय की १६०० ईस्वी सम्वत् में स्थापना की गई थी।

चूँकि पिछले कुछ समय से संसार में एक ऐसा विकट झंझावात आया है कि प्रायः अधिकांश लोग सद्धर्म एवं सुसंस्कृति किस वस्तु का नाम है, भूल गए हैं, विशेषकर वर्तमान पीढ़ी। नौजवानों की आम धारणा है कि धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता से क्या प्रयोजन? यह तो बुजुर्गों, सेवानिवृत्त लोगों, संन्यासियों की चीज है। यहां तक तो गनीमत है, कुछ भाई तो स्पष्ट कह देते हैं कि समाज में लड़ाई-झगड़ा, खून-खराबा और अशान्ति फैलाने की ये बातें हैं, उनका यह सोचना उचित है। इसके पीछे क्या कारण हैं? इस वैचारिक पृष्ठभूमि के पीछे संक्षेप में, मैं प्रमुख रूप से एक ही कारण बताना चाहूंगा और वह है "लोगों का अज्ञानवश सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक,

सर्वज्ञ परमात्मा के विराट् स्वरूप को छोड़कर समय-समय पर हुए तथाकथित अवतार, पैगम्बर, नवी को ही ईश्वर या सब कुछ समझ बैठ कर उनके द्वारा चलाई गई बातों को ही एक मात्र प्रमाण मानकर उसके पीछे लट्ठ, स्टेनगन और बमों को लेकर चलना।” बस शुरू होता है यहां से फसाद । हालांकि भगवान के नाम की दुहाई सभी देते हैं परन्तु महिमा मण्डन एवं श्रेष्ठता अपने-अपने अवतार, पैगम्बर, नवी, गुरु, तीर्थङ्कर आदि को ही सिद्ध करते व मानते हैं। और उन्हीं का अनुसरण किया जाता है चाहे उचित हो या अनुचित ।

संसार के इतिहास में महर्षि दयानन्द ही एकमात्र ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने, ढोंग, आडम्बर, अज्ञान, गुरुडम, अवतार, पैगम्बर, नवी, तीर्थङ्करवाद की मजबूत दीवारों को सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिमान्यभूमिका; एवं सत्य प्रचार के ज्ञानमय तर्क व प्रमाणों की शक्तिशाली चोटों से ध्वस्त करने का कार्य किया । इन्होंने समग्र क्रान्ति एवं शान्ति के लिए जहां आर्यसमाज आन्दोलन की स्थापना की (मत की नहीं) वहीं उनकी यह अद्भुत घोषणा कि मैं अपना कोई मत या समुदाय चलाने नहीं आया हूं अपितु सत्य सनातन अखिल ज्ञान-विज्ञान के भण्डार वेदों की सर्वकल्याणमयी वाणी का ही प्रचार प्रसार करने आया हूं। उनकी दूसरी विशेष बात और कि मेरी मृत्यु के पश्चात् नश्वर शरीर का पूर्ण विधि के साथ अन्तिम संस्कार करके उसकी भस्म को गरीब किसानों के खेतों में बखेर देना, मेरा कोई भी स्मारक, समाधि, मठ या मन्दिर न बनाना और ना ही पूजा करना क्योंकि मैं भी अन्य प्राणियों की तरह ही एक प्राणी हूं।

हम सभी लोगों का इस संसार में आगमन हुआ है अतः यहां की सभी समस्याओं से जूझना भी हमारा कार्य है। वास्तविकता जानना भी आवश्यक है । इस दृष्टि से उक्त पुस्तक जो पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं, यद्यपि धर्म, दर्शन और संस्कृति के समस्त पहलुओं के एक प्रतिशत की जानकारी देने का दावा नहीं करती, उस ज्ञान का तो अनन्त भण्डार है, हां इतना अवश्य है कि उस दिशा की ओर बढ़ने

एवं चिन्तन में सहायक होगी । पल्लवग्राह्य जानकारी आज के समय की मांग और जरूरत है । इस दृष्टि से यह पुस्तक अध्येता छात्रों के लिए धर्म, दर्शन, संस्कृति के सम्बन्ध में यथासक्य परिचित कराने में नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी ।

गत दो वर्षों से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विवेकी शिक्षाविदों एवं अधिकारियों ने बी० ए० कक्षा के छात्रों को अन्य विश्वविद्यालयों की लीक से हटकर एक ऐसा पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया, जिसका अध्ययन करने के उपरान्त विद्यार्थी जहां अपने धर्म, दर्शन, संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तों की जानकारी रखें, इसके अतिरिक्त, विद्यार्थी के व्यक्तित्व और जीवन में निखार तो आए ही, साथ ही विश्वविद्यालय का अपना विशेष शैक्षिक स्वरूप और पहचान भी बुलन्दी पर कायम रहे । वस्तुतः यह पाठ्यक्रम निर्धारण का प्रयोग अत्यन्त सफल रहा । इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इस वर्ष से बी० एस- सी० में भी उक्त पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया है जो अत्यन्त हर्ष की बात है ।

उक्त विषय को प्राच्य और अर्वाच्य पद्धति से तर्क व प्रमाणपूर्वक तथा तुलनात्मक अध्ययन हो इसको लक्ष्य कर उक्त विषय एवं पाठ्यक्रम का अध्यापन मेरे द्वारा ही प्रारम्भ कराया गया । मैंने अपने अध्यापन के दौरान यह पाया कि अधिकांश छात्रों का इस विषय का आधार न होने पर प्रायः सभी छात्रों की रुचि इस विषय को समझने और पढ़ने की रही, उनकी समस्त जिज्ञासाओं को शान्त भी किया जाता रहा । छात्रों ने स्वीकार किया कि वस्तुतः यह जीवन का व्यावहारिक ज्ञान है इसे अवश्य ही अधिगत करना चाहिए । लेकिन उनके लिए इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी परेशानी और शिकायत यह रही कि उनके स्तर की उपयुक्त पुस्तकें सुलभ नहीं हो सकीं । कुछ उपलब्ध भी हुईं तो वे उच्चस्तरीय और उनकी योग्यता से बाहर की थीं । और दूसरा यह कि विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सैकड़ों छात्रों के निमित्त इतनी पुस्तकें तुरन्त उपलब्ध भी नहीं थीं तथा विद्यार्थी को इसके लिए बीसियों पुस्तकें पढ़नी पड़तीं और फल थोड़ा-सा ही, समय

व ऊर्जा की हानि अलग। जो भी पुस्तकें विश्वविद्यालय पुस्तकालय में उपलब्ध थीं उनके पृष्ठ ही गायब। अपने छात्रों की इन समस्त परेशानियों का निवारण करने के लिए इनका आचार्य होने के नाते मैंने निश्चय किया कि इन विद्यार्थियों की समस्त शिकायत का "पाठ्य पुस्तक निर्माण" ही एक साक्षात् उपाय है। बहुत से मेरे प्रिय छात्रों ने 'पाठ्य पुस्तक निर्माण' के लिए पर्याप्त प्रेरित किया, जिसका प्रतिफलन आपके समक्ष है। इस कार्य के लिए मुझे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत एवं अनुदानित बृहद् शोध योजना के अन्तर्गत मेरे द्वारा तैयार किया जा रहा वैदिक साहित्य के क्षेत्र के विश्व प्रसिद्ध "वैदिक वाङ्मय - निर्वचन कोष" के निर्माण कार्य के व्यस्त समय से कटौती करके विद्यार्थियों की समस्या निवारणार्थ समय निकालना पड़ा, इसे मैं अपना स्वान्तः सुख समझता हूं। प्रिय विद्यार्थियो ! इस सम्बन्ध में आपकी तीनों वर्षों की समस्या समाप्त, क्योंकि यह पाठ्य पुस्तक तीनों वर्षों के पाठ्यक्रम के साथ संजोई गई है।

पुस्तक को आधुनिक विधि से कम्प्यूटर द्वारा सुन्दर स्वरूप निखारने में 'पेजा शोभा' के प्रौपराइट प्रिय मनीष वी० शर्मा एवं प्रिय नवेन्दु वी० शर्मा के योगदान की भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। इस पुस्तक के सम्बन्ध में प्रिय छात्रों एवं जिज्ञासु पाठकों के जो भी सकारात्मक सुझाव हों, उनका हृदय से स्वागत है।

अन्त में, मैं उन समस्त ज्ञाताज्ञात विद्वान् मनीषी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता एवं आभार प्रकट करना बहुत ही श्रेयस्कर व आवश्यक समझता हूं, जिनकी पुस्तकों से प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहायता ली है।

ज्ञानकर्मयोगीनामनुचरः
रूप किशोर

प्रथम भाग

1616 1619

संहिताएं

इसे सुखद आश्चर्य ही कहा जाएगा कि संसार का प्राचीनतम ज्ञान एवं साहित्य वेद ही है । सृष्टि के आदि में साक्षात् कृतधर्मा ऋषियों ने अपनी अद्भुत ज्ञान व योगशक्ति के माध्यम से जिस पवित्रतम ज्ञान राशि का दर्शन किया तथा मानव समाज को सम्यक्तया चलाने हेतु मनुष्यों के लिए जिसका उपदेश व शिक्षा दी उसका ही नाम वेद है । आद्युदात्त 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से धञ् प्रत्यय लगने पर बनता है, जिसके चार अर्थ प्रसिद्ध हैं — १ ज्ञान, २ सत्ता, ३ विचार, ४ लाभ । इसके कुछ पर्यायवाची शब्द हैं जैसे — श्रुति, छन्द, निगम, आगम, आम्नाय, त्रयी, स्वाध्याय इत्यादि ।

प्रसिद्ध वेदभाठयकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ "तैत्तिरीय संहिता भाठय भूमिका" में कहा है कि "इष्ट प्राप्ति अनिष्ट परिहारयोर लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः" अर्थात् इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट निवारण का अलौकिक अद्भुत उपाय जो ग्रन्थ बताता है वही 'वेद' है । महर्षि दयानन्द ने वेदों को "सब सत्य विद्याओं का पुस्तक" बताया है । महर्षि मनु समस्त धर्मों का मूल वेद को ही मानते हैं — "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" । इस प्रकार कहना उपयुक्त होगा कि वेद आदि सृष्टि में ही समूची मानव जाति के लिए हर क्षेत्र में पथ प्रदर्शक रहे हैं । ये किसी भी व्यक्ति की रचना नहीं है, अपितु ऋषियों के हृदय में मानव के कल्याण वेद ऋचाओं का आविर्भाव हुआ, पश्चात् में इनका उन्होंने संसार में विस्तार किया । अतः मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों एवं ऋषिकाओं के नाम मिलते हैं, वे वस्तुतः मन्त्रों के दृष्टा हैं तथा प्रवचनकर्त्ता हैं । वे रचयिता नहीं हैं ।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने, ऋषियों के हृदय में प्रकाशित होने एवं उसकी नित्यता का उल्लेख ऋग्वेद १०/७१/१ के निम्न मन्त्र में मिलता है :—

**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्ररत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥**

इसका मुख्य अभिप्राय सात बिन्दुओं में इस प्रकार है —

१. सृष्टि के आदि में होने वाली जो वाणी है, उस वाक् को सृष्टि के आदि में होने के कारण 'प्रथमम्' कहा गया ।
 २. जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि से संसार की मानव वाणियों का आदि स्रोत या मूल वेद से होने के कारण वह 'वाचो अग्रम्' कहा गया ।
 ३. सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेदों में संसार के नामों का निर्धारण, पदार्थों की संज्ञा, गुण, कर्म, स्वभाव व स्वरूपतः उपलब्ध होने के कारण उसे 'नामधेयं दधानाः' कहा है ।
 ४. मानवबुद्धि में आने वाले व्याकरण के संकुचित नियमों में बंधी न होने, सर्वश्रेष्ठ, विस्तृत दिव्य स्वरूप के फलस्वरूप वह 'श्रेष्ठम्' बताया गया ।
 ५. समस्त प्राणियों के निमित्त अभ्युदय और निश्श्रेयस्भूत अर्थात् सर्वविध कल्याणकारी होने के कारण 'अरिप्रम्' कहा गया ।
 ६. धर्म अधर्म, सत्यासत्य का विवेक एवं प्रेरणा देने के कारण समस्त मानव समाज की 'प्रेणा' है ।
 ७. समस्त प्राणियों की वृद्धि रूपी गुफा में सदा विराजमान एवं अन्तर्निहित है इसलिए वह वेदज्ञान 'गुहानिहितम्' कहा गया है ।
- ये उक्त सातों कसौटियां वेदज्ञान की ही हैं— यह वेदज्ञान, सृष्टि के आदि में परमात्म शक्ति के द्वारा ज्ञानवाक् की प्राप्ति के योग्य हुए साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के हृदय में हुआ, पश्चात् में उन्हीं ऋषियों से मानव ने प्राप्त किया । ऋग्वेद १०/७१/३ में कहा भी है कि "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।

वेद चार हैं — १. ऋग्वेद २. यजुर्वेद ३. सामवेद ४. अथर्ववेद । इन्हीं को संहिता भी कहते हैं । मन्त्रों के समूह का नाम ही संहिता है । जिनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है —

ऋग्वेद

चारों संहिताओं या वेदों में ऋग्वेद का प्रमुखतम एवं प्राचीनतम स्थान है। इसका आकार प्रकार भी बड़ा है। समस्त ऋग्वेद में मंत्रों की संख्या १०५८० है और अक्षरों की संख्या १६३२००० है। और यह दो वर्गों में बंटा हुआ है, एक है 'अष्टक' क्रम अर्थात् आठ अष्टक हैं तथा प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं इस तरह चौसठ अध्यायों में हैं। दूसरा क्रम 'मण्डल' है जो महत्वपूर्ण व विद्वानों में प्रिय है। इसमें १० मण्डल, ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त हैं।

वर्ण्य-विवेचन - ऋग्वेद यद्यपि अथाह विद्याओं का भण्डार है तथापि उसमें उद्धृत कतिपय विषयों की प्रस्तुति इस प्रकार है। अत्यन्त विशाल एवं प्राचीन होने की दृष्टि से मानवीय एवं सृष्टि सम्बन्धी तथ्यों को उजागर करने के साथ भाषाविज्ञान का यह आदि मूल है। संसार की समस्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन ऋग्वेदीय शब्दों, मंत्रों, सूक्तों से किया जाता है तथा भाषा का विकास किस प्रकार पृथ्वी पर प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त, गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् बृहती, पंक्ति और जगती इन छन्दों में होने के कारण यह छन्द विज्ञान का आदि स्रोत है।

संसार को चलाने वाले अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष इन समस्त भूततत्त्वों की उत्पत्ति का उल्लेख विस्तार से मिलता है साथ ही इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत, रुद्र, बृहस्पति, सोम, अश्विनी, सविता इत्यादि देवों की वैज्ञानिक व्याख्याएं उपलब्ध हैं।

दार्शनिक दृष्टि से संसार का सर्वोपरि शास्त्र है। ऋग्वेद में आए हुए पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, नासदीय सूक्त, ज्ञान सूक्त, शिवसंकल्प सूक्त, अस्मवामीय सूक्त इत्यादि स्थलों ने सृष्टि के निर्माण, सृष्टि के तत्त्वों, सृष्टि मीमांसा, परलोक, पुनर्जन्म, मनोविज्ञान, पराविद्या तथा अन्यान्य समस्त दार्शनिक रहस्यों की युक्तियुक्त गुत्थियों को खोला है।

ऋद्धासूक्त, संज्ञानसूक्त संवादसूक्त, अक्षसूक्त, संवनन सूक्त, दानसूक्त मण्डूक सूक्त आदि सूक्तों में आचार विचार सम्बन्धी, जीवन

को श्रेष्ठतम बनाने के लिए किया गया वर्णन अपने में मानो मानव की आचार संहिता ही तैयार की गई है। मानव-जीवन को उन्नत करते हुए सभी की उन्नति के समान अवसर का उल्लेख, मैत्री, विश्वबन्धुत्व का सन्देश यह इसकी विशेषता रही है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्था कैसी रहे इन सब का वर्णन ऋग्संहिता में उपलब्ध होता है। यज्ञों का विधान, कृषि विद्या का विस्तृत स्वरूप तथा अन्यान्य समस्त पहुलओं पर पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र इत्यादि समस्त लोगों में किस प्रकार का व्यवहार हो की खुली और विस्तृत चर्चा उपलब्ध है।

यजुर्वेद

दूसरी संहिता यजुर्वेद है। यजुः शब्द 'यज्' धातु से बना हुआ है। इस कारण इसका निकटतम सम्बन्ध यज्ञों से है। इसको अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। यजुर्वेद में गद्यात्मक मंत्रों की अधिकता है। काफी लम्बे-लम्बे मंत्र मात्र गद्य में है। इसमें ४० अध्याय और १६७५ मंत्र हैं। यजुर्वेद में कुछ मंत्र ऋग्वेद के भी मिलते हैं।

वर्ण्य-विवेचन - चूंकि यजुर्वेद मुख्य रूप से कर्मकाण्ड से सम्बन्धित वेद है। इसमें सामान्य भागों से लेकर विशेष भागों तक का वर्णन विनियोगों के साथ उपलब्ध होता है। इसके प्रारम्भ में दर्शेष्टि तथा पौणमासेष्टि भागों से सम्बन्धित मंत्र एवं विनियोग हैं। अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, सोमयाग अग्निष्टोम, सोमच्यवन विधि, तीनों सवनों के मंत्र, वाजपेय याग, तथा राजसूय सौत्रामणी इत्यादि भागों का विस्तार के साथ वर्णन उपलब्ध होता है। वेदी निर्माण, अग्नि चयन, वास्तुकला, गणित विद्या, रेखागणित, ज्यामिति एवं सांख्यिकी विद्या पर प्रचुर उल्लेख किया गया है। राजनीति, आचार तथा अन्यान्य शिल्प विद्या व्यवसायों व कलाओं का वर्णन है। इसमें गृहस्थ, सामाजिक नीतियां एवं उनके स्वरूप पर पर्याप्त मंत्र उपलब्ध हैं। पृथ्वी को रत्नगर्भा तो कहा ही है इसमें पाए जाने वाली धातुओं का उल्लेख भी प्रचुर मात्रा में हैं। यदि दार्शनिकता की दृष्टि से देखा जाए तो इसमें दार्शनिक

तत्त्वों के साथ-साथ आध्यात्मिक रहस्यों की गुत्थियां एवं उनका समाधान भरा पड़ा है। राज्य-व्यवस्था एवं दण्ड-व्यवस्था के मानदण्डों पर भी काफी विचार विमर्श हुआ है। एक बात हम अवश्य स्पष्ट करना चाहेंगे कि यजुर्वेद में प्राप्त कर्मकाण्ड एवं उसके विनियोगों की व्यवस्थाएं कुछ तो प्रतीक मात्र हैं, तो किन्हीं का पिण्डगत एवं ब्रह्माण्डगत इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है।

सामवेद

संहिता के आकार, प्रकार व कलेवर की दृष्टि से सामवेद यद्यपि लघुतम है तथापि विषय-विवेचन एवं अपनी व्याख्यात शाखाओं की दृष्टि से सबसे बड़ा है। महर्षि पतञ्जलि ने इसे "सहस्र वर्त्मा सामवेद" कहा है। अभिप्राय है कि इसकी १००० शाखाएं हैं। इसके ब्राह्मण, उपनिषद् व आरण्यक ग्रन्थ भी अन्य सभी संहिताओं से अधिक हैं।

सामवेद संहिता प्रधानतः दो भागों में विभक्त है— पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों भागों को मिलाकर मंत्र संख्या १८७५ हैं। इसमें अनेक ऐसे भी मंत्र हैं जो एक से अधिक बार भी आए हैं। और इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद में भी आए हैं। ऋचाओं के बहुमत के आधार पर तो इसे ऋग्वेद ही कहा जाना चाहिए। ऐसा होने पर भी सामवेद का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एवं प्रतिष्ठा है। सामवेद को उद्गातृवेद भी कहा जाता है। दर्शाति में विभक्त तथा पर्वों में आबद्ध यह वेद ऐन्द्र पर्व, अग्नि पर्व, पवमान पर्व, सोम पर्व तथा आरण्यक पर्व इत्यादि पर्व उल्लिखित हैं। कहीं-कहीं पर ग्रामगेय तथा महानाम्नी ऋचाएं भी हैं।

वर्ण्य-विवेचन - साम एक आध्यात्मिक विद्या का नाम है। यह त्रयी विद्या के अन्तर्गत गण्य है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जब ऋचाएं गायन में आती हैं, वे 'साम' हो जाती हैं। यह "गीतिषु सामाख्या" मीमांसा दर्शन २/३६ से स्पष्ट हो जाता है। परा अर्थात् आध्यात्मिक विद्या द्वारा जब ब्रह्म का वर्णन गायन विधि से होता है तो ऋग्वेद ८/६८/१ ने स्वयं "इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्"— कहकर साम के महत्त्व को स्वीकार किया है।

साम गान परम्परा का जनक तो सामवेद है ही, क्योंकि उद्गाता ऋत्विकों द्वारा सातों स्वरों की विभिन्न विधाओं यथा — वैरुप, बृहत्, रैवत्, गायत्र, भद्र, रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, अभीवर्त नौधस, रौरय, यौधाजय, अग्निष्टोमीय आदि के माध्यम से मंत्रमुग्ध गायन प्रस्तुत कर ब्रह्म स्तुति एवं ब्रह्म रस की प्राप्ति की जाती थी।

यह उपासना काण्ड के रूप में प्रसिद्ध है। वस्तुतः ऋचाओं के माध्यम से ब्रह्म की स्तुति स्तोत्र कही गई है। प्रभु की उपासना से मोक्ष तक पहुँचने का वर्णन किया गया है। इसके इतर अन्य विद्याओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

अथर्ववेद

अन्तिम वेद अथर्व संहिता है। 'थर्व' धातु कुटिलता एवं हिंस्य कर्म वाची है। थर्व में निषेधवाची 'अ' अक्षर लगने पर अथर्व बनता है, जिसका अभिप्राय है कि अकुटिलता तथा अहिंस्य कर्म करना। अथर्ववेद के लिए अन्य पद भी प्रयुक्त होते हैं यथा — ब्रह्मवेद, भैषज्यवेद, आङ्गिरस वेद, महीवेद, भृग्वेद, क्षत्रवेद और छन्दोवेद।

महर्षि पतञ्जलि ने इसे "नवधा आथर्वणो वेद" कहा है, अभिप्राय है कि इसकी नौ शाखाएँ हैं। अथर्ववेद में २० काण्ड, ७३० सूक्त और ५६८७ मंत्र हैं। मंत्रों की संख्या की दृष्टि से यह ऋग्वेद से छोटा और यजुर्वेद व सामवेद से काफी बड़ा है। इसमें गद्य पद्य दोनों हैं। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यह तीनों वेदों से काफी परवर्ती है, परन्तु भारतीय मनीषा की दृष्टि से यह उतना ही पुराना है जितने अन्य वेद।

वर्ण्य-विवेचन - इसको विज्ञान काण्ड का प्रधान वेद माना गया है, क्योंकि अन्य तीनों वेदों के अतिरिक्त जो भी संसार में विद्याएँ हो सकती हैं, का उल्लेख विस्तार से किया गया है। यह आयुर्वेद का जनक माना गया है, आयुर्वेद के सिद्धांत तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञासाएँ, विद्याएँ व प्रयोग भरे पड़े हैं। वात, पित्त, कफ, शरीरज, मनोज, तथा आध्यात्मिकज रोगों के नाम लक्षण, उपचार विधि एवं औषधियों का उल्लेख बड़ी ही गम्भीरता एवं विशदता से

किया है। सांसारिक वनस्पतियों, बूटियों, जड़ियों का उल्लेख पर्याप्त है वहीं पर सूर्य, चन्द्र की किरणों द्वारा उपचार तथा भाषा विज्ञान का गहन उल्लेख है। रोगों के उपचार में कृमियों के प्रयोग को एक अद्भुत रहस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दीर्घायु हेतु प्रार्थनाएं, यज्ञों, संस्कारों के विनियोगों का सफलता-पूर्वक उल्लेख हमें प्राप्त होता है। इसमें प्रायश्चित्तों की विभिन्न धाराणाओं, दुष्कार्यों के शमन आदि का विस्तृत वर्णन है। क्षात्र एवं ब्राह्म धर्म के पालन की मर्यादाएं व स्वरूप विशेष रूप से उल्लिखित हैं। राज कर्म करने की विधियों का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इस वेद में ऐसे सूक्त भी पर्याप्त हैं, जिनमें आत्मा, परमात्मा पृथ्वी, समुद्र, अन्तरिक्ष तथा ब्रह्माण्डगत स्वरूपों व विशेषताओं का उल्लेख स्पष्ट है यथा — पृथ्वीसूक्त, वेदमाता, इन्द्र, परमात्मा, राष्ट्र सभा, विराट खण्ड, गौ, ब्रह्मप्रकाशनम्, ज्येष्ठ ब्रह्मवर्णनम्, मेघला अमृतप्रदाता, शत्रुसेनानाशनम्, पापमोचनम्, सत्यानृत समीक्षा, राज्याभिषेक, वाणिज्य, सिन्धुः आपः वरुणः, इन्द्र मधु विद्या, अपां भेषजम् इत्यादि।

इस प्रकार यह गूढ़तम विद्याओं का भण्डार है। पाश्चात्यों ने इसे जादू टोने का वेद कहा है जो, अक्षरशः असत्य एवं निराधार है।

□

ब्राह्मण साहित्य

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का द्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण वर्ण या जाति के वाचक नहीं हैं, अपितु वह साहित्य जिसमें वेद के मंत्रों, रहस्यों की व्याख्या की गई है उसका नाम ब्राह्मण साहित्य है।

ब्राह्मण शब्द बृंह धातु से निष्पन्न 'ब्रह्मन्' शब्द से बना है, जो वृद्धि एवं प्रार्थना के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त है। 'ब्रह्मन्' शब्द मुख्य रूप से स्तुति का वाचक होने के कारण मंत्रों के परिप्रेक्ष्य में आया हुआ है, क्योंकि स्तुतियां मन्त्रात्मक हैं अतः उनका यज्ञों के विविध कार्यों में विनियोग होता है। इस प्रकार वेद का वह सन्दर्भ जिसमें मंत्रों के विनियोग आदि क्रियाओं का उल्लेख हो सामान्यतः वह ब्राह्मण कहा जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि जिनसे मनुष्य की यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्ति तथा निषिद्ध कार्यों की निवृत्ति हो वह ब्राह्मण माना जाता है। ब्रह्म शब्द के दो अर्थ हैं — मंत्र और यज्ञ। चूंकि मंत्र और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी है अतः मंत्र, यज्ञ, विधि एवं विनियोग इत्यादि के समस्त स्वरूप का द्योतक ब्राह्मण साहित्य ही है।

ब्राह्मण साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय - ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषयों की विवेचना शबर स्वामी ने इस कारिका में इस प्रकार से बतलाई है —

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।

परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना ॥

उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य च ।"

मीमांसा सूत्र— शावर भाष्य

उक्त कारिका में हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण-कल्पना और उपमान — ये १०

विषय ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं। यद्यपि ब्राह्मणों का मुख्य विषय 'विधि' ही है। चूंकि संहिताओं में किसी भी देवता या पदार्थ की स्तुति—वास्तविक स्वरूप का संकेत है तो ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका पूर्ण विनियोग एवं विधि के साथ परीक्षण एवं क्रियान्वयन। एक रूप से कहना होगा कि ब्राह्मण ग्रन्थ अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन को अपने विधि एवं अर्थवाद के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। सृष्टि विद्या, ब्रह्माण्ड स्वरूप, दार्शनिक चिन्तन, भाषा एवं निर्वचन सम्बन्धी रहस्य, सामाजिक, राजनैतिक तथ्यों का स्पष्टीकरण, गृहस्थ के सभी पहलुओं की सकारात्मक विवेचना, संस्कार और कर्मकाण्ड का वैज्ञानिक स्वरूप तथा आख्यानों के रहस्य—ये सभी अवान्तर भेद से ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित हैं। इस दृष्टि से प्राचीन वाङ्मय के रूप में प्रस्तुत ये ब्राह्मण ग्रन्थ अक्षय ज्ञान के भण्डार हैं।

उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ

चारों वेदों के अपने व्याख्यान ग्रन्थ अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ अलग-अलग हैं। जो इस प्रकार हैं —

ऋग्वेद के ब्राह्मण

१. ऐतरेय ब्राह्मण
२. शांखायन ब्राह्मण या कौषीतकि ब्राह्मण

यजुर्वेद के ब्राह्मण

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण
२. शतपथ ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मण

१. ताण्ड्य ब्राह्मण
२. षड्विंश ब्राह्मण
३. छान्दोग्य ब्राह्मण
४. देवताध्याय ब्राह्मण

५. संहितोपनिषद् ब्राह्मण
६. वंश ब्राह्मण
७. सामविधान ब्राह्मण
८. आर्षेय ब्राह्मण
९. जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण
१०. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
११. जैमिनीय ब्राह्मण

अथर्ववेद के ब्राह्मण

१. गोपथ ब्राह्मण

□

आरण्यक साहित्य

वैदिक साहित्य के महत्वपूर्ण भाग के रूप में प्रसिद्ध आरण्यक ग्रन्थों का चिन्तन की दृष्टि से श्लाघनीय स्थान है। आरण्यक शब्द 'अरण्य' में 'वुज' प्रत्यय लगने पर बनता है। अरण्य नाम जङ्गल का है, "अरण्ये भवमिति आरण्यकम्" अरऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्" इनका अभिप्राय होता है जङ्गल में होने वाला। सायणाचार्य ने — अरण्याध्यानादेतद् आरण्यकमितीर्यते।" कहकर स्पष्ट किया है कि अरण्य में चिन्तन, मनन, अध्ययन करने के कारण जिन ग्रन्थों की रचना हुई वे आरण्यक कहलाए। अतः निष्कर्षतः कहना होगा कि अरण्य अर्थात् जल में रहकर यज्ञों के रहस्य को बताने वाली जिस ज्ञान या विद्या का पाठ अध्ययन या लेखन वानप्रस्थी लोगों, चिन्तकों मनीषियों द्वारा किया जाता था वह विद्या जिन ग्रन्थों में लिपिबद्ध कर दी गई, उन ग्रन्थों को आरण्यक कहते हैं। आरण्यकों का पुराना नाम रहस्य भी है।

यह सही है कि ग्राम या शहरी वातावरण में रहस्यमयी विद्याओं का समुचित अध्ययन अध्यापन होना कठिन है, इस कारण तब ब्राह्मण ग्रन्थादि में वर्णित यज्ञ यागादि के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का दौर चला तो इसके लिए एकान्त वास या अरण्यता ही सर्वाधिक उपयुक्त थी। वहां रहकर वानप्रस्थ ऋषियों ने अपनी मनीषा से जो विद्याएं या शोध अर्जित किए, वह आरण्यक चिन्तन कहलाया। यद्यपि आरण्यक भाग ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित होते हुए भी आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के आध्यात्मिक व दार्शनिक स्वरूप के परिचायक हैं।

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य

आरण्यक ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन करना रहा है। प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना आरण्यकों का वस्तुतः रहस्य है। इनमें काल के

पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का निदर्शन बड़ी ही सुन्दर व्याख्या शैली में किया गया है। काल की प्रतीकात्मक व्याख्या के सन्दर्भ में अखण्ड संवत्सर के रूप में इसी पारमार्थिक काल का दर्शन होता है परन्तु व्यावहारिक काल अनेक एवं अनित्य है, अनेक मुहूर्त, दिन रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर इत्यादि में विकास होने पर भी वस्तुतः एक रूप व एकाकार है। ऋतुओं का वैज्ञानिक मार्मिक अध्ययन अपने में आरण्यकों के चिन्तन का सुफल है। ऋतुओं में रोगों की उत्पत्ति तथा उपचार का स्टीक वर्णन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष स्वरूप, देवचिन्तन, यागों के विनियोगों की दार्शनिक मान्यताएं, समस्त आश्रमों के स्वरूप, आत्मा परमात्मा चिन्तन—ये सभी आख्यानों के मुख्य विषय हैं।

उपलब्ध आरण्यक

१. ऋग्वेदीय आरण्यक - १. ऐतरेय आरण्यक
२. शांखायन आरण्यक
 २. यजुर्वेदीय आरण्यक - १. तैत्तिरीय आरण्यक
२. बृहदारण्यक
 ३. सामवेदीय आरण्यक - १. तलवकार आरण्यक
- अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है।



उपनिषद् साहित्य

वैदिक साहित्य में उपनिषद् ग्रन्थों का विशेष महत्व एवं स्थान है। उपनिषद् शब्द में 'उप' और 'नि' दो उपसर्ग के साथ 'षद्' धातु है, जिसका अर्थ है— "उप-सामीप्येन नि- निश्शेषेण नितरां वा षद् लृ सीदन्ति प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यथा विद्यया सा उपनिषद्" अर्थात् उपनिषद् वह विद्या है, जिसके द्वारा सांसारिक भावनाओं व सम्बन्धों से विरक्त होकर अत्यन्त समीपता से परब्रह्म को प्राप्त किया जा सके। अतः उपनिषद् आध्यात्मिक या परा विद्या के ग्रन्थ हैं। उपनिषदों में वैदिक भावनाओं को आध्यात्मिक दृष्टि से समझने-समझाने का सफल प्रयत्न है। उपनिषद् वेदों की आध्यात्मिक व्याख्या के ग्रन्थ हैं।

वर्ण्य-विषय — यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि उपनिषद् मूल रूप से आध्यात्मिक विषय की विवेचना करते हैं। संहिताओं से लेकर आरण्यक साहित्य की रचना तक विचारों में बड़े परिवर्तन आते गए। मंत्र की जिज्ञासा को कर्मकाण्ड की प्रतीकात्मक व्याख्या से जोड़कर दुरुह विषयों को स्पष्ट किया ब्राह्मण साहित्य ने। पश्चात् में एक ऐसी चिन्तनधारा ने मोड़ लिया कि उस कर्मकाण्ड के अन्तर्गत व्याख्यात विनियोगों एवं विधि को दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आयाम दिया आरण्यकों ने, जो जंगलों या एकान्त वास के चिन्तन का परिणाम था। तदनन्तर गम्भीर रहस्यों का पूर्ण रूप से आध्यात्मीकरण किया उपनिषदों ने, जिनमें अधिकांशतः आत्मा-परमात्मा, मन व इन्द्रियों की शुद्धि, सृष्टि रचना, ब्रह्माण्ड विवेचना, पराविद्या, तत्त्वमसि, नीति, ज्ञान कर्म, इहलोक, परलोक स्थिति, जन्म मृत्यु स्वरूप, मोक्ष स्वरूप ओ३म्, देवयान, पितृयान, तुरीयावस्था रयि-प्राण, देवस्वरूप एवं भूत तत्त्वों इत्यादि पर विस्तार से गम्भीर चर्चा हुई है।

आध्यात्मिक विषयों को समझाने की दृष्टि से उपनिषदों में विभिन्न विधियों का आश्रय लिया है, जिनमें प्रमुख इस प्रकार से हैं— प्रतीकात्मक विधि सूत्र विधि, निरुक्त विधि, आख्यायिका विधि, शास्त्रार्थ विधि, आत्म संलाप विधि, आधिदैवत विधि, संवाद विधि इत्यादि।

प्राप्त मुख्य उपनिषद् — उपनिषद् साहित्य संख्या की दृष्टि से १०८ से २१८ तक मानी जाती है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार ऋग्वेद— १०, शुक्ल यजुर्वेद— १६, कृष्ण यजुर्वेद— ३२, सामवेद— १६ और अथर्ववेद — ३१ उपनिषदें हैं जो कुल मिलाकर १०८ होती हैं। किन्तु प्राचीन उपनिषदों के रूप में मान्यता केवल ११ उपनिषदों को ही है जो विभागशः इस प्रकार हैं —

ऋग्वेद — १. ऐतरेयोपनिषद्

यजुर्वेद — १. तैत्तिरीयोपनिषद्

२. कठोपनिषद्

३. श्वेताश्वतरोपनिषद्

४. ईशावास्योपनिषद्

५. बृहदारण्यकोपनिषद्

६. प्रश्नोपनिषद्

सामवेद - १. छान्दोग्योपनिषद्

२. केनोपनिषद्

अथर्ववेद - १. मुण्डकोपनिषद्

२. माण्डूक्योपनिषद्



यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय

१. ईशा वास्यमिदं स्रवं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विन्नम् ॥

अन्वय एवं अर्थ

जगत्यां	—	समस्त ब्रह्माण्ड या चलायमान सृष्टि में
यत् किं च	—	जो कुछ भी
जगत्	—	जड़ चेतन स्वरूप संसार है
इदं सर्वं	—	यह सब
ईशा	—	सर्वशक्तिमान् ईश्वर से
वास्यं	—	व्याप्त है
तेन	—	इसलिए
त्यक्तेन	—	त्याग भाव से
भुञ्जीथाः	—	सांसारिक पदार्थों का उपभोग करो
गृधः	—	(अतः) लालची या आसक्त
मा	—	मत (नहीं) बनो
धन	—	(क्योंकि) यह धन या सांसारिक पदार्थ
कस्यस्वित्	—	किसका है अर्थात् किसी का भी नहीं है ।

व्याख्या

इस मंत्र में सांसारिक मनुष्यों के लिए ज्ञान दिया गया है कि यह दृश्यमान समस्त ब्रह्माण्ड जो भगवान् की सृष्टि है, इस विद्यमान चर अचर जगत् में सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी स्वाभाविक अनन्त शक्ति से सर्वत्र व्याप्त है। कोई भी वस्तु या पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें कि प्रभु की शक्ति या व्यवस्था व्याप्त न हो। इसलिए संसार की समस्त वस्तुओं का स्वामित्व

ईश्वराधीन है। अतः इसका त्यागभाव से भोग करने का उपदेश मनुष्य के लिए है। लालची बनने से सर्वथा दूर रहें, क्योंकि ये पदार्थ या धन किसका साथी रहा है। और यदि आसक्ति रखी तो वह दुख का कारण बनेगी। इसीलिए प्रभु के इस संसार में पदार्थों का त्यागपूर्वक भोग करते हुए आनन्दित एवं प्रसन्नचित्त रहें ।

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अन्वय एवं अर्थ

इह	—	इस संसार में
कर्माणि	—	धर्म युक्त कर्मों को
कुर्वन्	—	करते हुए
एवं	—	ही
शतं	—	सौ
समाः	—	वर्षों तक
जिजीविषेत्	—	जीने की इच्छा कर
एवं	—	इस प्रकार (धर्मसम्मत कर्म करने वाले)
त्वयि	—	तुझ
नरे	—	मनुष्य में
कर्म	—	कृत कर्म (के संस्कार)
न	—	नहीं
लिप्यते	—	लिप्त करते हैं।
इतः	—	इससे भिन्न
अन्यथा	—	दूसरा प्रकार या मार्ग
न अस्ति	—	नहीं है।

व्याख्या

सांसारिक वस्तुओं में प्रभु को व्याप्त, दृष्टा एवं नियामक मानते हुए उपलब्ध समस्त पदार्थों को त्यागभाव से भोगते हुए धर्म सम्मत कार्यों को

करते हुए सौ वर्ष तक सुखद जीवन जीने की सदा अभिलाषा करता रहे। इस प्रकार मानव अपने जीवन में त्यागभाव और अनासक्ति के विचारों को धारण करके चलता है तो उस मनुष्य को पुनः पुनः बन्धन में डालने वाले कृत कर्मों के भाव अथवा संस्कार लिप्त नहीं करते। सच्चे अर्थों में वह कर्म करता हुआ भी निष्काम बना रहता है, यही श्रेष्ठ उपाय है इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग या उपाय नहीं है।

३. असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अन्वय एवं अर्थ

असूर्याः	—	असुर
नाम	—	नामवाची या प्रसिद्ध
लोकाः	—	नाना प्रकार की योनियां एवं दुखरूप लोक
ते	—	वे हैं, जो
अन्धेन	—	अन्धकार रूप
तमसा	—	अज्ञान से
आवृताः	—	आच्छादित हैं, घिरे हुए हैं
ये	—	जो
के	—	कोई
च	—	भी, और
आत्महनः	—	आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले
जनाः	—	मनुष्य हों
ते	—	वे
प्रेत्य	—	मरने के पश्चात् -
तान्	—	उन नरकमय लोकों या योनियों को
अभिगच्छन्ति	—	पुनः पुनः जाते हैं।

व्याख्या

मनुष्य का परम ध्येय है, शाश्वद् आनन्द एवं सुख की प्राप्ति और यह प्राप्त होती है सद्कर्म करते हुए अनासक्त भाव से। इसके विपरीत जो

मनुष्य दुष्कर्म करते हैं, अज्ञान, अन्धविश्वास या पाखण्ड ढोंग में रहते हैं, इसी को आसुरी प्रवृत्ति, स्थिति एवं योनियां अथवा स्थान कहते हैं। इस तरह जो लोग धर्म, सद्कर्म व ज्ञान की प्रेरक अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करते रहते हैं वे लोग मरने के बाद उन्हीं अज्ञान अन्धकार से आवृत लोकों एवं योनियों में बार-बार पड़ते रहते हैं।

४. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनददेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तरि-मन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

अन्तय एवं अर्थ

एकं	—	अद्वितीय परमात्मा
अनेजत्	—	अपनी व्यवस्था एवं स्वरूप से अटल
मनसः	—	मन से भी
जवीयः	—	अति वेगवान्
पूर्व	—	सभी का अग्रणी
अर्षत्	—	सर्वत्र पहुंचा हुआ
एनत्	—	परमेश्वर को
देवाः	—	इन्द्रियादि अवयव
न	—	नहीं
आप्नुवन्	—	पा सके हैं या जान सके हैं
तत्	—	वह स्वयं
तिष्ठत्	—	अपने स्वरूप में स्थित प्रभु
धावतैः	—	दौड़ते हुए
अन्यान्	—	अन्यों को
अत्येति	—	अतिक्रमण कर जाता है
तरिस्मिन्	—	उस ब्रह्म (की अनन्त व्यवस्था में)
मातरिश्वा	—	जीवात्मा
अपः	—	कर्मों को
दधाति	—	धारण करता है।

व्याख्या

इस मंत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि वह एक अद्वितीय प्रभु जो अपनी अनन्त सामर्थ्य से सर्वत्र अविचल भाव से एक रस विद्यमान है। मन आदि तीव्रतम गतिमान् पदार्थों से भी वह तीव्र गतिमान है, अर्थात् वह इन इन्द्रियादि अवयवों से सर्वथा अप्राप्य है। कोई भी सांसारिक पदार्थ या दृश्यादृश्य शक्ति उस परमेश्वर का अतिक्रमण कदापि करने में नितान्त असमर्थ है। उसी अनन्त ब्रह्म की अनन्त व्यवस्था में समस्त प्राणी अपने-अपने कर्तव्यों पर आरुढ़ रहते हुए बँधे हुए हैं।

५. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

अन्वय एवं अर्थ

१४.४

६६:२

तत्	—	वह
एजति	—	चलता है
तत्	—	वह
न	—	नहीं
एजति	—	चलता है
तत्	—	वह
दूरे	—	दूर है
तत् उ	—	वह निश्चय ही
अन्तिके	—	अत्यन्त समीप है
तत्	—	वह
अस्य	—	इस
सर्वस्य	—	समस्त जगत् के
अन्तः	—	भीतर परिपूर्ण है
तत् उ	—	वह निश्चय ही
अस्य	—	इस
सर्वस्य	—	समस्त संसार के
बाह्यतः	—	बाहर भी है।



व्याख्या

विदित होता है कि संसार का अधिष्ठाता वह परमात्मा अपनी व्यवस्थात्मक शक्तियों के द्वारा सर्वत्र चलायमान है और अपनी अटल व्यवस्था के कारण से अचलायमान है। चलाचल व्यवस्था का वह स्वयं ऐसा एक ही है, इस अलौकिक स्वरूप और स्वभाव को अन्य कोई भी धारण नहीं कर सकता। जो उसकी विराट शक्ति से अपरिचित हैं अथवा, दुरित, पाप या दुष्टाचरण के कार्यों एवं विषयों में डूबे हुए हैं, ऐसे लोगों के लिए प्रभु सर्वथा दूर है और जो धर्मनिष्ठ, सत्य, न्याय के आचरण पर हैं ऐसे लोगों के लिए अत्यन्त समीप है। क्योंकि वह परमात्मा तो इस संसार में निश्चयेन व्याप्त है और इस संसार के बाहर भी यदि कोई और संसार या स्थान है, उसमें भी व्याप्त है।

६. यस् तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

अन्वय एवं अर्थ

यः	—	जो मनुष्य
तु	—	तो
सर्वाणि	—	सम्पूर्ण
भूतानि	—	प्राणियों को
आत्मन्	—	आत्मा में
एव	—	ही
अनुपश्यति	—	देखता है
च	—	और
सर्वभूतेषु	—	समस्त प्राणियों में
आत्मानं	—	परमात्मा को
ततः	—	उसके बाद
न	—	नहीं
विचिकित्सति	—	सन्देह को प्राप्त होता है।

व्याख्या

इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि एक भाव से जो मनुष्य संसार के प्राणिमात्र को परब्रह्म परमेश्वर में समाहित देखता है तथा उसी प्रभु को समस्त प्राणियों में एक रस व्याप्त देखता है। फलस्वरूप वह व्यक्ति किसी से द्वेष, घृणा, कपट या संशय नहीं करता। वह सभी के साथ निश्छल प्रेम का व्यवहार करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है।

७. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

अन्वय एवं अर्थ

यस्मिन्	— जिस परमात्मा में
विजानतः	— ज्ञान रखने वाले पुरुष के लिए
सर्वाणि	— समस्त
भूतानि	— प्राणी
आत्मा	— अपनी आत्मा के
एव	— समान
अभूत्	— हो जाते हैं
तत्र	— उस अवस्था में
एकत्वं	— परमात्मा के एकत्व को
अनुपश्यतः	— परमात्मा सत्ता के स्वरूप को जानने वाले पुरुष के लिए
कः	— कौन सा
मोहः	— मोह, ममता
कः	— कौन सा
शोकः	— शोक (रह जाता है)

व्याख्या

उक्त मंत्रानुसार जब मानव परमात्म तत्त्व को एवं उसकी शाश्वत अनन्त व्यवस्था व शक्ति को उसी सम्यक् स्वरूप में देखता है तब उस स्वरूप दृष्टा मनुष्य के लिए सर्वदा सर्वत्र परमात्म तत्त्व के दर्शन होते हैं

यही कारण है कि समस्त प्राणी उस आत्म तत्त्ववेत्ता पुरुष की दृष्टि में एकीभूत हो जाते हैं। ऐसे विचारवान् पुरुष के चित्त में शोक, मोह, दुख इत्यादि का सर्वथा अभाव हो जाता है।

८. स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमरु नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् ।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

अन्वय एवं अर्थ

शुक्रं	—	सर्व शक्तिमान्
अकायं	—	शरीर रहित
अव्रणं	—	छिद्र रहित
अस्नाविरं	—	नस—नाड़ी सम्बन्धों से रहित
शुद्धं	—	परम पवित्र
अपापविद्धं	—	पापादि कर्मों से सर्वथा दूर है
सः	—	ऐसा वह परमात्मा
परि	—	सभी ओर
अगात्	—	व्याप्त है, पहुंचा हुआ है
कविः	—	(वह) सर्वज्ञ
मनीषी	—	सभी जीवों के गुण, कर्म, स्वभाव एवं उनकी मनोवृत्तियों को जानने वाला
परिभूः	—	सर्वनियन्ता
स्वयम्भूः	—	अनादि स्वरूप वाला है
शाश्वतीभ्यः	—	अनादि
समाभ्यः	—	काल से
याथातथ्यतः	—	यथार्थता से, ठीक-ठीक
अर्थान्	—	विचारों की, पदार्थों की
व्यदधात्	—	रचना करता आया है

व्याख्या

इस मंत्र में परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का उल्लेख किया गया है कि वह परमात्मा सारे ब्रह्माण्ड का जहाँ नियामक एवं सञ्चालक है वहीं वह

सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ अर्थात् समस्त प्राणियों, पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव एवं जन्मादि को जानने वाला है। वह शरीरत्रय अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण — इन तीनों शरीरों से, नस नाड़ियों इत्यादि अवयवों से सर्वथा परे है अर्थात् वह निराकार होने के कारण सार्वकालिक, सार्वदेशिक, अनादि स्वरूप अर्थात् न तो उसे कोई जन्म देता है और ना ही वह गर्भस्थ होकर जन्म लेने वाला होता है। इस कारण वह स्वयम्भू है। अनादिकाल से ही समस्त प्रजा के लिए यथार्थ ज्ञान व पदार्थों की रचना करता है। वस्तुतः वेदों में वर्णित यही स्वरूप परमात्मा का है, अन्य नहीं है।

६. **अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।**
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रता :।।

अन्तय एवं अर्थ

ये	—	जो लोग
असम्भूतिं	—	सत् रज तम गुणात्मक जड़ प्रकृति की
उपासते	—	उपासना करते हैं
ते	—	वे मनुष्य
अन्धन्तमः	—	घनघोर अन्धकार में
प्रविशन्ति	—	प्रवेश करते हैं
ये	—	और जो मनुष्य
सम्भूत्यां	—	कार्यरूप उत्पन्न सांसारिक पदार्थों में
रताः	—	लीन हैं
ते उ	—	वे मनुष्य निस्सन्देह
ततः	—	उससे
भूय इव	—	कहीं अधिक
तमः	—	अज्ञान या अन्धकार में हैं।

व्याख्या

इस संसार में वेदोक्त परमात्मा स्वरूप एवं उसकी वास्तविक स्तुति को छोड़कर अन्य की उपासना करने वाले दो प्रकार के मनुष्य बताए हैं। पहले वे जो सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण स्वभाव प्रकृति के जड़ तत्त्वों

की पूजा में निरत हैं, उन्हें वेदमंत्र ने घनघोर अज्ञान या अन्धकार में डूबा हुआ कहा है, दूसरे वे लोग हैं जो सम्भूति अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों या कार्यजगत् में ही तल्लीन हैं ऐसे लोग और अधिक अविद्या अज्ञान में डूबे हुए हैं।

१०. अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

अन्वय एवं अर्थ

सम्भवात्	—	कार्य रूप जड़ पदार्थों की उपासना से
अन्यद् एव	—	अन्य ही फल
आहुः	—	कहा गया है
असम्भवात्	—	कारण रूप जड़ पदार्थों की उपासना से
अन्यद्	—	भिन्न फल
आहुः	—	बताया गया है
इति	—	इस प्रकार
धीराणां	—	विद्वान्, धीर पुरुषों का
शुश्रुम	—	उपदेश है
ये	—	जिन्होंने
नः	—	हमें
तत्	—	उस गूढ़ विषय को
विचचक्षिरे	—	व्याख्या करके समझाया है।

व्याख्या

आध्यात्मवेत्ता धीर पुरुषों ने समय-समय पर अपने उपदेशों, ज्ञान एवं व्याख्यानों द्वारा स्पष्ट किया है कि कार्यरूप जगत् के पदार्थों की उपासना का अन्य ही परिणाम होता है तथा जो असम्भूति अर्थात् कारणरूप प्रकृति के तत्वों की उपासना में निरत रहते हैं उस उपासना का परिणाम भिन्न है। अतः दोनों प्रकार की पद्धति में विवेक रखना वैदिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

११. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

अन्वय एवं अर्थ

यः	—	जो विद्वान् मनुष्य
सम्भूतिं	—	कार्यरूप जड़ जगत् को
च	—	और
विनाशं	—	कारण रूप प्रकृति जिसमें पदार्थों का लय होता है
च	—	और
सह	—	साथ-साथ
उभयं तत्	—	उस कार्य-कारण रूप संसार को
वेद	—	जानता है, वह
विनाशेन	—	नित्य स्वरूप को जानने के कारण से
मृत्युं	—	दुख सागर को
तीर्त्वा	—	पार करके
सम्भूत्या	—	धर्म कर्म रूपी सांसारिक आचार संहिता के पूर्ण सहयोग और माध्यम से
अमृतं	—	मोक्ष
अश्नुते	—	प्राप्त करता है।

व्याख्या

इस मंत्र से पूर्णतया यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के परा अपरा क्षेत्र की समस्त प्रवृत्तियों एवं स्थितियों को समझकर जो विद्वान्, चलते हैं वे नित्यानित्य का विचारकर जरामरण को पार करके अन्तिम ध्येय अर्थात् परम धाम मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कर लेने में नितान्त सक्षम एवं अधिकारी बन जाते हैं।

१२. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

अन्वय एवं अर्थ

ये	—	जो मनुष्य
अविद्यां	—	अविद्या, अज्ञान की

उपासते	—	उपासना करते हैं, वे
अन्धन्तमः	—	अज्ञान स्वरूप घोर अन्धकार में
प्रविशन्ति	—	प्रवेश करते हैं,
ये	—	और जो मनुष्य
विद्यायां	—	मात्र विद्या या ज्ञान में ही
रताः	—	लीन हैं
ते	—	वे लोग
ततः	—	उससे
उ भूयः इव	—	भी अधिक रूप से
तमः	—	अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।

व्याख्या

इस मंत्र का आशय है कि इस संसार में जो मनुष्य अज्ञान, अविद्यात्मक कार्यों को करते या विचारों को धारण करते हैं, ऐसे मनुष्य दुख रूप अन्धकार में गिरते पड़ते हैं । और ऐसे मनुष्य जो मात्र ज्ञान या विद्या में ही तल्लीन हैं, अपने क्रियारहित ज्ञान के अभिमान में ऐसे अविवेकी हो जाते हैं, जिन्हें अपने से बड़ा विद्वान् समझदार योग्य व्यक्ति दिखाई ही नहीं देता । ऐसे लोग अज्ञान अविद्या का सेवन करने वालों से भी अधिक घनघोर नरक युक्त अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं ।

१३. अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तदविचक्षिरे ॥

अन्वय एवं अर्थ

विद्यायाः	—	विद्या या ज्ञान का
अन्यत् एव	—	अन्य ही फल
आहुः	—	बताया गया है
अविद्यायाः	—	अविद्या अज्ञान का
अन्यत्	—	भिन्न फल
आहुः	—	कहा गया है

इति	—	इस प्रकार
धीराणां	—	विद्वान् धीर पुरुषों का
शुश्रुम	—	कथन या उपदेश है
ये	—	जिन्होंने
नः	—	हमें
तत्	—	उस गम्भीर विषय को
विचचक्षिरे	—	व्याख्या करके समझाया है।

व्याख्या

विद्वान् पुरुषों ने विद्या-ज्ञान का परिणाम कुछ और ही बताया है। तथा अविद्या का दूसरा फल बताया है। यह तो धीर पुरुषों का वचन है, जिसको उन्होंने सम्यक् तथा व्याख्या कर यह समझाया है कि मात्र विद्या के मिथ्याभिमान में डूबे रहने वाले लोग अन्य परिणाम को भोगते हैं और जो मात्र अविद्या-अज्ञान के ही उपासक हैं वे तो घनघोर अन्धकार में डूबे रहने के कारण तदनुकूल दूसरे ही परिणाम को भोगते हैं।

१४. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

अन्वय एवं अर्थ

यः	—	जो मनुष्य
विद्यां	—	विद्या या ज्ञान को
च	—	और
अविद्यां	—	अविद्या या अज्ञान को
च	—	भी
तत् उभयं	—	उन दोनों को
सह	—	साथ-साथ
वेद	—	जानता है, वह
अविद्यया	—	अविद्या की जानकारी से
मृत्युं	—	मृत्यु भय को
तीर्त्वा	—	पार करके

विद्यया	—	क्रियाशील विद्या, ज्ञान के माध्यम से
अमृतं	—	मोक्ष स्वरूप परमानन्द को
अश्नुते	—	प्राप्त करता है।

व्याख्या

मनुष्य को इहलौकिक और पारलौकिक स्थितियों की प्राप्ति हेतु विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानना अति आवश्यक कहा गया है, चूंकि अविद्या की जानकारी से अन्धकार, दुरितों, पापों से मनुष्य बचकर अच्छे मार्ग का अनुगामी बन जाता है, ऐसा हुआ साधु पुरुष जब विद्या अर्थात् क्रियाशील ज्ञान का प्रयोग एवं उपयोग अपने जीवन में करता है तो वह वही पुरुष जहां दुख सागर से छूटता है तो वहीं वह अमृत अर्थात् मुक्तिधाम की ओर जाता है।

१५. वायुरनिलममृतमथेदं भरु मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो रमर क्लिबे रमर कृतं रमर ॥

अन्वय एवं अर्थ

वायुः	—	आत्मा और सूक्ष्म शरीर, जिसमें गति एवं कृत कर्म संस्कार रहते हैं
अनिलं	—	कारणरूप शरीर एवं प्राणतत्त्व
अमृतं	—	अविनाशी, अमर
इदं	—	यह
शरीरं	—	भौतिक शरीर
भस्मान्तं	—	भस्मी पर्यन्त है, अर्थात् नश्वर है
अथ	—	इसको समझते हुए
क्रतो	—	हे कर्मशील जीव !
ओ३म्	—	परमात्मा को
रमर	—	स्मरण कर
क्लिबे	—	स्व सामर्थ्य एवं अपने स्वरूप को
रमर	—	स्मरण कर, और
कृतं	—	अपने कृत कर्मों को
रमर	—	याद कर।

व्याख्या

आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इस मन्त्र में कहा गया है कि संसार में दो सत्ता हैं। एक नश्वर दूसरी अनश्वर या अमर। शरीर तीन प्रकार के हैं — भौतिक शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर। भौतिक शरीर तो मात्र भस्मीपर्यन्त है अर्थात् यह नश्वर है इसकी सत्ता तभी तक है जब तक इस शरीर में आत्मा, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर रहते हैं। जब तक मोक्ष स्थिति न प्राप्त हो तब तक सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता। एक प्रकार से यह अमर ही है। कारण शरीर तो स्वयं भावों, संस्कारों युक्त सूक्ष्म शरीर एवं आत्मतत्त्व के साथ श्लिष्ट रहता ही है। यह सभी अमर हैं। अतः उक्त नश्वरता अनश्वरता का विवेक रखते हुए कर्मशील जीवात्मा के लिए सन्देश दिया गया है कि वह सदैव तीन चीजों को स्मरण रखे — १. परमात्मा को, २. अपनी स्थिति या अपने स्वरूप को, ३. अपने द्वारा कृत कर्मों को। इस तरह जो पुरुष अपने जीवन परा-अपरा, विनाशी-अविनाशी को समझ करके, विवेक करके पुरुषार्थ चतुष्टय को लेकर चलता है वही श्रेयस्कर है।

१६. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

अन्वय एवं अर्थ

अग्ने	—	स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मन् !
अस्मान्	—	हमें
रायं	—	सात्त्विक वैभव की प्राप्ति के लिए
सुपथा	—	अच्छे धर्ममय मार्ग से
नय	—	ले चलिए
देव	—	हे दिव्य स्वरूप सकल सुख दाता प्रभु ! आप
विश्वानि	—	हमारे समस्त
वयुनानि	—	गुण, कर्म, स्वभाव के
विद्वान्	—	ज्ञाता हैं। अतः आप से प्रार्थना है कि
अस्मत्	—	हमसे

जुहुराणं	—	कुटिलता युक्त
एनः	—	पापरूप कर्मों को
युयोधि	—	दूर करें, और हम लोग
ते	—	आपकी
भूयिष्ठां	—	बहुत प्रकार से अथवा बार-बार
नम उक्तिं	—	स्तुतिरूप नम्रतापूर्वक प्रशंसा
विधेम	—	सदा किया करें।

१७. हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्य यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् स्वं ब्रह्म ॥

अन्वय एवं पदार्थ

हिरण्यमयेन	—	ज्योतिर्युक्त
पात्रेण	—	सबके रक्षक प्रभु के द्वारा
सत्यस्य	—	सत्य स्वरूप कारण प्रकृति का
मुखं	—	मुख या स्वरूप
अपिहितं	—	ढका हुआ है या आच्छादित है
यः	—	जो
असौ	—	वह
आदित्ये	—	प्राण या प्रभामण्डल में
पुरुषः	—	पूर्ण प्रभु है
सः	—	वह
असौ	—	परोक्ष रूप में (वही)
अहं	—	मैं हूँ और
खं	—	आकाशवत् व्यापक
ब्रह्म	—	निज स्वभाव से सबसे बड़ा
ओ३म्	—	ओ३म् इस प्रधान नाम से प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या

दृश्यादृश्य समस्त ब्रह्माण्ड उस प्रभु की परम अधिष्ठातृ शक्ति या ज्योति से सदा आवृत है। प्रत्येक पदार्थ में जो भी शक्ति है उसी परमात्मा

की ही तो ज्योति है। उसी ने अपनी अनन्त ज्योति या शक्ति के कारण स्वरूपा प्रकृति को भी आच्छादित कर रखा है। उदाहरण स्वरूप आदित्य में जो भी शक्ति तत्व है वही तो परम पुरुष है। वह परम पुरुष आकाश की तरह व्यापक है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक है, उसी प्रकार परमात्मा भी ब्रह्माण्ड के कण कण में समाया हुआ है उसी परमतत्व का निज एवं प्रधान नाम ओ३म् है।

□

सत्कार्यवाद

भारतीय दर्शन में प्रमुख, सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सांख्य सिद्धान्तों में वर्णित कार्य-कारण सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझा जाए। सांख्य के मूल तत्व अर्थात् प्रकृति को समझने का आधार मात्र 'सत्कार्यवाद' है। इसके सिद्धान्तानुसार कार्यतत्त्व सत् है और कार्यतत्त्व अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व कारण तत्त्व में विद्यमान अवश्य रहता है। उक्त सिद्धान्त एवं रहस्य को आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' में निम्न कारिका एवं व्याख्या द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

(अर्थात् — असत् अकरणात् उपादान ग्रहणात्,

सर्वसम्भव अभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्,

कारण भावात् च सत्कार्यम्)

१. असदकरणात् — असत् + अकरणात् अर्थात् असत्—जो सत् नहीं है, अकरणात्—उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जाएगा कि वह किसी का कारण व्यापार नहीं हो सकता है। असत् वस्तु किसी भी प्रकार से उत्पन्न नहीं की जा सकती। जिस प्रकार बालू में तेल नहीं होता, अनेक प्रयत्न करने पर भी बालू से तेल उत्पन्न नहीं किया जा सकता। तिल से ही तेल उत्पन्न होगा, क्योंकि तिल से तेल उत्पन्न करने की सामर्थ्य पहले से ही विद्यमान है। अतः स्पष्ट है कि कार्य कारण में विद्यमान रहता है, जो विभिन्न क्रियाओं से व्यक्त होता है।

२. उपादान ग्रहणात् — किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारण का ग्रहण होता है, जैसे घड़े का निर्माण करने के लिए

घड़े की उपादानभूत मिट्टी का ग्रहण होता है। अभिप्राय है कि कुम्भकार घड़े के निर्माण में मिट्टी का ही उपयोग करता है, अन्य चीज का नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि कारणरूप मिट्टी में कार्यरूप घड़े की अभिव्यक्ति पहले से ही अवश्य विद्यमान थी।

३. **सर्वसम्भवाभावात्** — सर्वसम्भव-अभावात् अर्थात् सब कारणों से सब कार्य कभी उत्पन्न नहीं हो सकते। दूध से दही ही बनता है, घड़ा, कपड़ा इत्यादि कदापि नहीं बन सकता। क्योंकि दही बनाने की सामर्थ्य केवल दूध में ही है, अन्य में वह सामर्थ्य नहीं है। यों कह सकते हैं कि सभी वस्तुओं से दूसरी सभी वस्तुएं कदापि सम्भव नहीं हैं। अतः सभी का सब जगह सम्भव न होने के कारण सत्कार्य सिद्ध होता है।

४. **शक्तस्य शक्यकरणात्** — इससे स्पष्ट होता है कि जो जिसको उत्पन्न करने में समर्थ है, उस शक्तकारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होगी, अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति सम्भव है, जैसे घड़े का निर्माण करने में कुलाल (चाक) ही समर्थ हो सकता है, कपड़े या रथ इत्यादि को नहीं। अथवा घड़े को उत्पन्न करने में मिट्टी का पिण्ड ही समर्थ है, अन्य वस्तु रथ पट आदि नहीं।

५. **कारणभावात्** — कार्य और कारण का परस्पर अभेद सम्बन्ध है। कार्य का कारण से अभिन्न सम्बन्ध होने के बावजूद कार्य को उसकी सत्ता पूर्व कारण में विद्यमान माना जाता है। जैसे कपड़ा रूपी कार्य तन्तु (धागे) रूप कारण से भिन्न नहीं होता, तभी तो पट (कपड़े) को अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व तन्तुओं में पूर्णतः विद्यमान मानना चाहिए।

अतः सांख्य के मत में न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और ना ही विनाश। अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसकी पुष्टि गीता— २/१६ में विद्यमान है — “नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।” निष्कर्षतः उक्त हेतुओं एवं प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कार्य अपने में उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद की सार्थकता है।

प्रमाण

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रमाण का महत्व असन्दिग्ध है। प्रमाण की व्याख्या में कहा है कि "प्रमाकरणं प्रमाणं" यथार्थ ज्ञान के माध्यम को प्रमाण कहा गया है "प्रमीयते ज्ञायते वा अनेन इति प्रमाणं" अर्थात् जिससे वस्तुस्थिति का बोध हो जाए चूंकि वास्तविकता तक पहुंचाना इसका मुख्य लक्ष्य है। यद्यपि भारतीय दर्शन में आठ प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव) का उल्लेख है, परन्तु सांख्य दर्शन मात्र तीन प्रमाण — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या आप्त वचन को मानता हुआ अन्य सभी प्रमाणों का इन्हीं तीनों प्रमाणों में समावेश मानता है। इसी बात को सांख्य कारिका में कहा है—

दृष्टमनुमाप्तवचनञ्च, सर्वप्रमाण सिद्धत्वात् ।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः ॥

अब ये तीनों प्रमाण — दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा आप्तवचन (शब्द) क्या हैं, इसका उल्लेख आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका में इस प्रकार से किया गया है।

प्रति विषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमारख्यातम् ।

तल्लिङ्गं लिङ्गं युर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

१. प्रत्यक्ष प्रमाण — आचार्य ईश्वरकृष्ण के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण "प्रति विषयाध्यवसायो दृष्टम्" है। दृष्टं का अर्थ देखा गया होता है, इसी को प्रत्यक्ष — अर्थात् प्रति+अक्ष — चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से विषय का सीधा-सीधा सम्बन्ध माना है। "विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रति विषयमिन्द्रियम्" अभिप्राय है कि इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष ही उसकी वृत्ति है। इन्द्रिय से विषय का सीधे सम्बन्ध होने के कारण उस वस्तु के आकार-प्रकार गुण दोष इत्यादि का स्वरूप ज्ञान हो जाता है। यह स्वरूप वृत्ति ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाती है।

२. अनुमान प्रमाण — अनुमान ज्ञान में इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से परे पदार्थ का ज्ञान कराने वाला प्रमाण 'अनुमान' है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इसका लक्षण दिया है कि "तत् (अनुमानं) लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" अभिप्राय है लिङ्ग या हेतु (व्याप्य) द्वारा लिङ्गि (व्यापक) का ज्ञान अनुमान ज्ञान माना है, जैसे धुएं से अग्नि का ज्ञान। धुआं लिङ्गि (व्याप्य) है और अग्नि लिङ्गि (व्यापक)। इसको इस तरह भी कहा जा सकता है कि धुएं की उपस्थिति अग्नि की उपस्थिति से व्याप्त रहती है। अन्य उदाहरण यथा — बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान, बालक को देखकर माता पिता का अनुमान, फल को देखकर वृक्ष का अनुमान इत्यादि।

३. शब्द प्रमाण — शब्द प्रमाण या आप्त वाक्य प्रमाण की परिभाषा में कहा गया है "आप्तश्रुतिराप्तवचनम्" अर्थात् आप्त वाक्य जन्य ज्ञान ही शब्द या आगम प्रमाण कहा जाता है। वाक्यार्थ ज्ञान की आप्तता या प्रामाणिकता दो प्रकार से सिद्ध होती है — स्वतः एवं परतः। वेद अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण हैं। और ऋषियों मुनियों आप्त (धर्म) पुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थों एवं कथित वाक्यों को वेदानुकूल होने के कारण परतः प्रमाण माने गए हैं।

इस तरह उक्त तीन प्रमाण में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव होने के कारण इन्हीं को मुख्य प्रमाण माना गया है।

□

पुरुष-सिद्धि

सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण ने पुरुष के लिए "ज्ञ" और "न प्रकृतिः न विकृतिः" कहकर पुरुष की स्वतन्त्र संज्ञा स्वीकार की है। पुरुष की सत्ता में पांच हेतु प्रदर्शित किए हैं, जिनके द्वारा पुरुष का अस्तित्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

१. संघातपरार्थत्वात् — अर्थात् समस्त सांसारिक वस्तुएं किसी दूसरे के लिए होने से । जिसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार पलङ्ग, अनाज, कुर्सी, मेज इत्यादि वस्तुएं जड़ होने के कारण स्वयं के लिए अनुपयोगी हैं। अतः इनका उपयोग कोई अन्य ही करता है। पलङ्ग को देखकर पलङ्ग पर शयन करने वाले का अनुमान किया जाता है। इसी तरह संसार की समस्त वस्तुओं का भोग करने वाली दूसरी सत्ता ही होगी, वह है चेतन पुरुष।

२. त्रिगुणादिविपर्ययाद् — सत्, रज, तम—इन तीनों गुणों से भिन्न होने से अर्थात् यह प्रकृति अथवा संसार उक्त तीनों गुणों से युक्त है, ठीक इसके विपरीत अन्य सत्ता है जो चेतन है। वह ही निर्गुण पुरुष की ओर संकेत करती है।

३. अधिष्ठानात् — त्रिगुणात्मक वस्तुओं का कोई अधिष्ठाता होने से भी पुरुष की सिद्धि होती है जैसे कार या रथ विना ड्राइवर या सारथी के नहीं चलता अर्थात् उसका कोई न कोई चेतन अधिष्ठाता या स्वामी अवश्य होता है और वह स्वामी या अधिष्ठाता 'पुरुष' ही सिद्ध होता है।

४. भोक्तृभावात् — संसार की त्रिगुणात्मक वस्तुओं का भोक्ता होने के कारण पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है यदि कोई भोक्ता न हो तो

अनुकूल और प्रतिकूल स्थिति, का भोग या अनुभव कौन बताएगा। क्योंकि भोजन या फल स्वाद या रस स्वयं भोजन या फल नहीं ले सकते। उसका स्वाद या रस लेने वाले को चेतन सत्ता अर्थात् पुरुष कहा है।

५. कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च — कैवल्य मोक्ष को कहते हैं। मोक्ष की प्रवृत्ति मात्र चेतन पुरुष की ही होती है न कि अचेतन त्रिगुणात्मक पदार्थों की। दुःखत्रय से सर्वथा मुक्ति की चर्चा मात्र पुरुष के लिए ही है। वह इन दुःखों से छूटकर आनन्द या कैवल्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि यह प्रवृत्ति मात्र पुरुष की है, अन्य किसी भी वस्तु या पदार्थ की नहीं।

इस तरह उक्त सभी तथ्यों एवं प्रमाणों से निश्चित रूप से पुरुष की सिद्धि होती है।

□

सांख्य का विकासवाद

सांख्य विश्व प्रसिद्ध भारतीय दर्शनों में से एक प्रमुख है। इसका सीधा सा सम्बन्ध प्रकृति तत्त्वों से है। इसके मूल प्रणेता महर्षि कपिल हैं। महर्षि कपिल ने इस दृश्यादृश्य ब्रह्माण्ड की गम्भीर पहेलियों को सुलझाने और गम्भीर समस्याओं के विवेचन के लिए सर्वप्रथम जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है, उन समस्त पहलुओं का मुख्य आधार वेद ही हैं। वेदों के मंत्रों एवं सूक्तों में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तों की गहनताओं की महर्षि कपिल ने अपनी सूत्र शैली में सुन्दरतम जहां व्याख्या की है वहीं वेदों के मौलिक चिन्तन को आयाम भी दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि वेदों में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी गुत्थियों का पूर्ण विकास सांख्य दर्शन में प्रतिपादित किया गया है।

अब हमारे सामने प्रश्न है कि सांख्य में वर्णित जो भी प्रकृति तत्व हैं, वे क्या हैं? उनके वेदों से लेकर आधुनिक काल तक क्या क्या विकास हुए हैं? इत्यादि। प्रथम, हमको 'सांख्य' शब्द पर विचार करना होगा। 'सांख्य' मूलतः — संख्यावाची होने के कारण सांख्य माना गया। महर्षि कपिल ने संख्यात्मक पच्चीस तत्त्वों का उल्लेख किया है। यद्यपि तीन मुख्य तत्व हैं — व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष। अव्यक्त मूल प्रकृति है और दूसरा पुरुष तत्व जो व्यक्त और अव्यक्त से सर्वथा परे है। व्यक्त तत्व अव्यक्त प्रकृति से विकृत या उत्पन्न तेइस तत्व हैं जो इस प्रकार हैं — महतत्व, अहंकार, पांच तन्मात्राएं, पांच महाभूत, दश इन्द्रियां और एक मन। जिनका ग्राफ द्वारा वर्णन इस प्रकार है :—

१. अव्यक्त (प्रकृति)

२. पुरुष

३. महत्तत्त्व

४. अहंकार

पञ्चतन्मात्राएं

५. रूप

६. रस

७. शब्द

८. स्पर्श

९. गन्ध

१०. अग्नि तत्त्व

११. जल तत्त्व

१२. आकाश तत्त्व

१३. वायु तत्त्व

१४. पृथिवी तत्त्व

एकादश इन्द्रियां

पञ्च ज्ञानेन्द्रियां

पञ्च कर्मेन्द्रियां

उभयेन्द्रियां

चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, वाक्, नासिका १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५

इन पच्चीस तत्त्वों में ही समस्त ब्रह्माण्ड का समावेश है। अंग्रेजी का साइंस (Science) शब्द वस्तुतः इसी 'सांख्य' शब्द का अपभ्रंश है। 'सायंस' और 'सांख्य' दोनों शब्द जहां ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से समीपता रखते हैं वहीं विषयगत दृष्टि से भी दोनों एक ही हैं।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया ही है कि सांख्य की समस्त विवेचना का मूलाधार वेद है। वेद में अव्यक्त (प्रकृति) तत्त्व के लिए अनेक स्थान पर अदिति, स्वधा, असद् इत्यादि पदों का तथा पुरुष के लिए दक्ष, अमर्त्यः, प्रजापति इत्यादि पदों का बहुशः प्रयोग है और अदिति — प्रकृति से उत्पन्न समस्त पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख वेदों में प्रचुर मात्रा में वर्णित है। वेदों के नासदीय सूक्त, अस्यवामीय सूक्त, पुरुषसूक्त एवं अन्यान्य सूक्त व मन्त्र हैं जहां अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त संसार और पुरुष — इन तीनों सत्ताओं के सम्बन्ध में अत्यन्त गहराई से ज्ञान विज्ञान युक्त समस्याएं एवं चिन्तन प्रस्तुत किए गए हैं।

वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक ग्रन्थों, उपनिषद् ग्रन्थों और दर्शन ग्रन्थों में अव्यक्त-प्रकृति, व्यक्त-दृश्यमान् जगत् एवं सर्वनियन्ता परम पुरुष — इन तीनों के सम्यक् विवेचन का विस्तृत आयाम निर्बाध गति से मिलता है।

महर्षि कपिल ने सांख्य दर्शन में सूत्र शैली प्रस्तुत कर, अपनी अजस्र प्रवाहमान प्रतिभा का परिचय देते हुए इन तीनों को २५

संख्यात्मक अवयवों में बांटकर उनके सम्बन्ध में मौलिकता प्रस्तुत की है। इसी संख्या के कारण 'सांख्य' नामक दर्शन की स्थापना हुई।

उक्त सांख्य सिद्धान्तों एवं परम्परा का विकास सांख्य दर्शन के पश्चात् वर्ती साहित्य में विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने विचारानुकूल विभिन्न व्याख्याएं, टीकाएं उपजीय एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें ईश्वर कृष्ण द्वारा लिखित सांख्यकारिका प्रसिद्ध है, इस ग्रन्थ पर वाचस्पति मिश्र की प्रसिद्ध टीका "सांख्य तत्त्व-कौमुदी" के नाम से है। सांख्यकारिका पर ही 'युक्ति-दीपिका', 'माठरवृत्ति', जयमङ्गला और सांख्य चन्द्रिका उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'सांख्यवृत्तिसार', 'सांख्य प्रवचनभाष्य', 'लघुसांख्यसारवृत्ति', 'सांख्यतत्त्वविवेचन', 'सांख्यतत्त्वप्रदीप', 'सांख्यपरिभाषा' इत्यादि अनेकानेक छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना 'सांख्य' के प्रतिपादन में समय-समय पर हुई है।

इसके अतिरिक्त, अन्य दार्शनिक आध्यात्मिक कलात्मक, मानविकी एवं विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों में जहां कहीं भी प्रत्यक्ष या अवान्तर भेद से ब्रह्माण्डगत पदार्थों, मूलप्रकृति तथा पुरुष पर लेखनी उठी हुई मिलती है अथवा चिन्तन हुआ है या शोध चल रहे हैं, यह सब निश्चित ही सांख्य परम्परा की श्रीवृद्धि हो रही है। आज भी सांख्य के ऊपर पर्याप्त अनवरत अध्ययन सतत् विकास की ओर है।



वैदिक वर्ण व्यवस्था

वैदिककालीन युग में गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र — इन चार भागों में व्यवस्थित किया गया था, जो अपने-अपने कर्तव्यों, अधिकारों एवं मर्यादा का पालन करते हुए सामाजिक इकाई को सुदृढ़ रखते थे। ऐसे सुराष्ट्र में सभी को मर्यादित जीवन व्यतीत करते हुए एहिलौकिक एवं पारलौकिक उन्नति को प्राप्त करने का समान और सशक्त अवसर प्राप्त रहता था। जहां यह वैदिक वर्ण व्यवस्था व्यक्तिगत बिन्दु पर अवलम्बित थी, तो वहीं यह समष्टिगत बिन्दु को भी परिपुष्ट करती थी, यही इसका गहन अस्तित्व था, जिससे आबाल बृद्ध पारिवारिक इकाई से लेकर समग्र राष्ट्रगत इकाई तक प्रत्येक व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित था, इसी के कारण उक्त समस्त संस्थाएं एवं घटक प्रभावित होते थे। ये आपस में गुम्फित एवं ग्रथित होने के कारण एक दूसरे के सुतराम पूरक व सहायक थे।

वर्ण एवं जाति — वैदिक काल के पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के बाद, पश्चात् में परिस्थितिजन्य स्वार्थों, विदेशी आक्रान्ताओं एवं विदेशी लेखकों की वैदिक सिद्धान्तों से सर्वथा अनजान लेखनी ने वर्ण व्यवस्था को बरबस या निश्चित योजना के तहत जातिव्यवस्था के रूप में परिवर्तित करने का कार्य किया। वर्ण को जाति का पर्याय मानना वस्तुतः समाज में यह भयंकर दोष सिद्ध हुआ। वर्ण और जाति, पर्याप्त भेद है। अत्यन्त संक्षेप में कहना होगा — 'वर्णों—वृणोतेः' (चुना जाना, वरण करना) अर्थात् वर्ण योग्यताजनित चुनाव, विशेषता या श्रेष्ठता का घटक है।

वैसे तो प्राचीन काल में चूंकि सभी लोग गुरुचरणों में बैठकर अध्ययन किया करते थे, उस ब्रह्मचर्य या विद्यार्जन काल में जिस

विद्यार्थी के गुण, कर्म, स्वभाव में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व या शूद्रत्व में से किसी एक का प्राबल्य होता था, विद्यालय या गुरुकुल में ही आचार्य द्वारा उस विद्यार्थी को उसी वर्ण का वरण करा दिया जाता था, और यह आवश्यक नहीं था कि वह उसी वर्ण में रहे। पश्चात् में भी तदव्यवस्थानुकूल किसी भी वर्ण का वरण कर सकता था, ऐसे हमको वैदिक वाङ्मय में अनेक उदाहरण मिलते हैं। यही वैदिककालीन वर्ण था।

आज प्रायः प्रत्येक धर्मावलम्बी समाज में तथाकथित विभिन्न जातियों की बाढ़ सी आ गई है, इसको वैदिक विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में जाति नहीं माना गया है। जाति का धातुज अर्थ उत्पत्ति अथवा जन्म है। महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में लिखा है कि “सति मूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगः” अर्थात् प्राणियों को उनके पूर्वकृत कर्म एवं संस्कारानुसार ही जाति, आयु तथा भोग मिलते हैं और प्रत्येक प्राणी किसी न किसी जाति से सम्बन्ध रखता है। न्यायशास्त्र में महर्षि गौतम ने “आकृतिजातिलिङ्गाख्या” एवं “समान प्रसवात्मिका जातिः” ऐसा उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय है कि जिन-जिन प्राणियों के शरीर की आकृति (इन्द्रियादि अवयव) एक समान हैं, तथा उनके प्रसव की स्थिति भी समान है, वह जाति कही जाती है। समान प्रसव वह कहलाता है कि जिन नर मादा के रजवीर्य से समान आकृतिधर्माओं का ही प्रसव या जन्म होता है यथा — सब मनुष्य एक मानव जाति, सभी तरह के घोड़े एक घोड़ा जाति, सब गायें एक गौ जाति इत्यादि। इसमें रंग, देश, छोटे-बड़े का कोई अभिप्राय नहीं है। अतः यह जाति जन्म सिद्ध होने के कारण परिवर्तित नहीं होती। वैदिक मान्यताओं में इस प्रकार की जाति आजीवन अपरिवर्तनीय है।

वर्ण व्यवस्था का वैदिक स्वरूप — वैदिक ऋषियों ने वेद की “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यःकृतः। उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत”^१ ? इस ऋचा के आधार पर मानव समाज को चार भागों में विभक्त किया है, इसका विवरण इस प्रकार निर्दिष्ट है —

१. ऋग्वे० १०/६०/१२, यजु० ३१/११, अथर्व० १६/६/६ में उरु के स्थान में मध्य और कृत के स्थान में अथवत् आया है।

वैदिक समाज संरचना

वर्ण	अवयव	प्रतीक	कार्य
१. ब्राह्मण	मुख	ज्ञानतत्त्व	ज्ञान, चिन्तन, निर्देशन, आदेश, सन्देशादि (Intelligence)
२. क्षत्रिय	बाहू	शक्तितत्त्व	शासन, रक्षण परित्राणादि (Defence)
३. वैश्य	उरु	धनतत्त्व	धनार्जन, पालन पोषणादि (Commerce)
४. शूद्र	पाद	क्रियातत्त्व	सेवा, सुश्रुषा, तप, श्रमादि (Labour)

सामूहिक परिणाम

१. सभी का कार्य करना अनिवार्य
२. सभी की व्यस्तता
३. परस्पर सामंजस्य
४. परस्पर हितचिन्तन, आवश्यकता पूर्ति, पालन, पोषण, रक्षण
५. परस्पर सम्मान प्रेम, स्नेह, महत्व
६. ऊंच नीच भेद भाव रहित स्वरूप अधिकार, कर्तव्य और सहयोग।

उक्त चार्ट द्वारा संकेत मिलता है कि किस तरह वेद की ऋचा के आधार पर समग्र व्यवस्थित समाज की नींव वैदिक काल में स्थापित थी, जिसमें वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत मान्यता को अपने ही शरीर में ब्राह्मण मुख स्थानीय, क्षत्रिय बाहूस्थानीय, वैश्य उरुस्थानीय और शूद्र पादस्थानीय — इन चार स्थानों में चारों वर्णों की सशक्त परिकल्पना की और यही परिकल्पना बनी मानव जाति की सुदृढ़ समाज व्यवस्था जो वर्ण व्यवस्था के रूप में थी। वस्तुतः यह वैदिक काल की अद्भुत सामाजिक संरचना थी, जिसमें परस्पर प्रगाढ़ प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, महत्व, सौहार्द, हितचिन्तन, सभी को कार्यव्यापार, सभी के अधिकार सुरक्षित, सभी का संरक्षण, छुआछूत ऊंच-नीच भेदभाव का सर्वथा लोप और परस्पर किञ्चन्मात्र भी टकराव, द्वेष, कलह, लड़ाई, झगड़े आदि नहीं थे।

ऐसी सर्वविध कल्याणकारी व्यवस्था के रहते हुए निश्चित रूप से इस श्लोक का क्रियान्वयन सार्थक था :-

“न राज्यमासीद् न राजासीद् न दण्डो न च दाण्डिकः
धर्मेणैव च प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्”

वर्णों के व्यावहारिक निर्माण की अवधारणा

मानव समाज को वर्ण व्यवस्था के रूप में समाज की संरचना का मूल यद्यपि वेद में स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त था तथापि सृष्टि के प्रारम्भ में वर्णों का व्यावहारिक निर्माण कैसे विकसित हुआ, इस सन्दर्भ में चिन्तन की आवश्यकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्ण निर्माण की अवधारणा के विस्तार का उल्लेख इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि सृष्टि के आदि में मात्र एक ब्राह्मण वर्ण ही था। इसकी पुष्टि में यास्क का वचन स्मरणीय है कि “साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो वभूवुः” अर्थात् प्रारम्भ में साक्षात्कृतधर्मा ब्रह्मज्ञानी ऋषि ही हुए जो ब्राह्मण वर्ण में गण्य थे। वह अकेला सामाजिक व्यवहार को सिद्ध करने में सफल एवं समर्थ ना हुआ, फलतः ब्राह्मण वर्ण ने एक और क्षत्रिय वर्ण को बनाया। जब ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण से भी समाज का कार्य न चल सका तब एक और वर्ण वैश्य वर्ण को बनाया। जब देखा गया कि समाज के व्यवहारों एवं कार्य व्यापार में न्यूनता है, तो पूर्णता के लिए चतुर्थ वर्ण शूद्र की व्यवस्था की गई तब समाज का सुचारु रूप से व्यावहारिक स्वरूप व्यवस्थित हुआ, चूंकि यह शूद्र वर्ण सभी का पोषण करने के कारण ‘पूषण’ कहा गया है।

महाभारत का यह उल्लेख करना कि प्राचीन काल में मात्र एक ही वर्ण था, लेकिन कार्य विभाग के कारण उसी एक वर्ण में से चार वर्णों की प्रतिष्ठा हुई^१ यह उक्त तथ्यानुकूल है और यही भागवत पुराण का मन्तव्य है।^२

१. निरुक्त - १/२०

२. एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिरः ।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥
म०भा० शान्ति पर्व अध्याय १८८

३. एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नाम्यः एकोऽग्निरवर्ण एव च ॥

वर्ण व्यवस्था

वेद में समस्त वर्णों के नर नारियों को आजीवन कर्मशील और अदीनभावत्व में रहकर दीर्घायु तक जीने की इच्छा के स्पष्ट निर्देश^१ का अभिप्राय है कि जो मनुष्य लौकिक व्यवहार सिद्धि के जिन कार्यों की सामर्थ्य एवं योग्यता रखते हैं, वे उस गृहीत कार्य को आयुभर अवश्य करते रहें ताकि बेकारी में पड़े हुए लक्ष्यहीन न हो जाएं। क्योंकि उस लौकिक व्यवहार सिद्धि के कार्यों से ही उसकी आजीविका चले, फलतः वह रहन-सहन, खान-पान तथा अन्यान्य धर्म-कर्म भी सुचारु रूप से चला सके।

जहां तक सभी वर्णों के लोगों द्वारा कृत कार्य एवं आजीविका का प्रश्न है, वह वैदिक विचारधारा में वर्णानुसार का उल्लेख है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी के पृथक्-पृथक् कार्य एवं आजीविका हैं।^२ आजीविका चूंकि कार्याधीन है, जो वर्ण जिस कार्य को करता है, वही उसकी आजीविका का आधार बन जाता है।

ब्राह्मण वर्ण के कार्य के सम्बन्ध में वेद? से^३ स्पष्ट निर्देश है कि ब्राह्मण वर्ण को अध्ययन अध्यापन में लगे रहने का अधिकार है, वह मस्तिष्क के कार्यों का पुरोधा माना गया है, समाज के लिए ज्ञान व दिशा की आवश्यकता है, अतः यह कार्य ब्राह्मण वर्ण को सौंपा है। मनुस्मृति में ब्राह्मण को ज्ञानार्जन, यज्ञ करना इत्यादि। यह तो मात्र एक वर्ण का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि संसार में कोई भी

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । यजु० ४०/२

२. सर्वास्यास्य सर्गस्य गृहयर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माध्यकल्पयत् ॥

मनुस्मृति १/८७

३. यजु० ३०/५

मानव निष्क्रिय न रहे। अतः उसका कार्यव्यापार करना एक स्वाभाविक गुण है, वही कार्य उसका आजीविकालम्बन बन जाता है। वैदिक विचारधारा में कर्म को प्रधानता दी है कर्म ही वर्ण के पहचान की कसौटी है अर्थात् कर्म ही उसकी आजीविका एवं वर्ण का आधार है।

वर्ण व्यवस्था कार्यमूलक है, जन्माधारित नहीं

अज्ञान तथा स्वार्थवश वर्ण व्यवस्था को जन्ममूलक मानकर वैदिक संस्कृति और सभ्यता के प्रति घोर अन्याय एवं अनर्थ किया है, इससे देश का परिवेश ही बदल गया है, जबकि स्थिति पूर्णतया विपरीत है, क्योंकि यह वर्ण व्यवस्था नितान्त कार्यमूलक है, जन्ममूलक नहीं। वस्तुतः वर्ण का अभिप्राय है कि जिस कर्म, पेशा या व्यवसाय का वरण कर लिया गया है, वह तदनुसार ही वर्ण में गण्य है। यजुर्वेद ३०/५ वें मंत्र में इस आशय को उद्धृत किया गया है कि सब प्रकार की विद्याओं को अध्ययन अध्यापन करने तथा प्रचार प्रसार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा, राज्य प्रबन्ध अनुशासन आदि के लिए क्षत्रिय को, कृषि व्यापारादि के लिए वैश्य को तथा विभिन्न प्रकार के शिल्प, श्रमसाध्य कार्यों को करने तथा शारीरिक रूप से समाज की सेवा करने के कारण शूद्र व्यवहार्य है। इस समस्त लौकिक व्यवहार की सिद्धि तथा उक्त कार्यों का सम्पादन करने के लिए ही चातुर्वर्ण्य की समायोजना बनाई गई थी। अतः जन्माधारित वर्ण व्यवस्था मानने का व्यावहारिक धरातल पर सैद्धान्तिक औचित्य ही नहीं है।

महर्षि मनु ने वर्णों को सिद्धान्ततः कर्माधारित माना है। वर्ण व्यवस्था को मात्र जन्ममूलक मानने वालों को करारी चोट देते हुए बार-बार चिन्तन करने के लिए बाध्य किया है कि गुण कर्म स्वभावानुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य

१. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यातथैव च ॥

मनु० स्मृ० १०/६५

२. आ० घ०सू० १/५/१०-११

के सम्बन्ध में ज्ञेय है।^१ इससे विदित हो जाता है कि चारों वर्णों के व्यक्ति अपने-अपने कार्यों को बदलने के साथ अपने-अपने वर्णों को भी बदल सकते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्रकार ने इस सम्बन्ध में "धर्मचर्य्या जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ। अधर्मचर्य्या पूर्वं वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तः"^२ इस न्यायोचित मान्यता को उद्धृत करते हुए माना कि निम्न वर्ण अपने धर्माचरण से उत्तमोत्तम वर्ण को प्राप्त कर लेता है और वह उसी वर्ण में गण्य होगा, जिसकी वह पात्रता एवं अर्हता रखता है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में निम्नोद्धृत सत्यार्थ को उद्धाटित कर वैदिक परम्परा का सन्देश दिया "जो शूद्र कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण, कर्म, स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाए, वैसे क्षत्रिय वैश्य के कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण वा शूद्र के सदृश होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष व स्त्री हो वह उसी वर्ण में गिनी जावे।" लगभग ऐसे ही विचार उन्होंने संस्कार विधि में भी प्रकट किए हैं।

क्या मानव में कोई जन्ममूलक चिह्न हैं, या जातिगत भेद हैं जिससे उनके वर्ण की पहचान हो सके ? पुराण यद्यपि वेदानुकूल ग्रन्थ नहीं है फिर भी भविष्य पुराण ४० वें अध्याय में भी गौओं, घोड़ों के सदृश मनुष्यों में जन्मना जाति भेद नहीं बल्कि कार्य शक्ति के निमित्त से मनुष्यों में वर्ण भेद माना है।^३ सत्य तो यह कि जीविकोपार्जन करने वाले कार्यों के करने से ही मनुष्य का वर्ण निश्चित होता है और जीविका का सम्बन्ध मात्र गृहस्थ आश्रम से ही है। दूसरे आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास में वर्ण नहीं रहता। अतः वैज्ञानिक रूप से

१. संप्र० पृ० ८७

२. तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यशक्ति निमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत् ॥

स्पष्ट है वर्ण परिवर्तनशील है तथा परिवर्तनशीलता में जन्म मूलता का सर्वथा अभाव रहता है।

वर्णव्यवस्थागत जीवन में छूआछूत ऊंच नीच का अभाव

वैदिक समाज में छूआछूत न तो किसी नियम या व्यवस्था पर आधारित था और ना ही इसका कोई शास्त्रीय आधार या मर्यादा। हां समस्त वैदिक शास्त्रों में इस अमानवीय कुरीति का कोई उल्लेख भी नहीं है। वेद में सभी वर्गों के लोगों के साथ मिल बैठकर भोज्य पदार्थ खाने अथवा सहभोज करने का वर्णन अवश्य मिलता है।^१ ऋग्वेद १०/१६१ वां संज्ञान सूक्त सभी के साथ भ्रातृत्व प्रेम एवं सैहार्द की जहां चर्चा करता है, साथ ही सभी वर्गों के व्यक्तियों के परस्पर अन्तर्हृदय एवं अन्तर्मन की एकरूपता, सामञ्जस्य पर अधिक बल देता है।^२

यह सत्य है कि आजकल की भांति वैदिक काल में आज के तथाकथित अनुसूचित जाति (जिन्हें वैदिककालीन शूद्र का पक्षपाती मूर्ख अविवेकी लोगों ने राजनीतिकरण कर दिया है) थी ही नहीं। तत्कालीन समाज में शूद्र भी अत्यन्त उपादेय वर्ण था, उसका सभी वर्णों के साथ समान रूप से उठना-बैठना, खान-पान, यहां तक कि वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित होते थे। वैदिक समाज की यह अद्भुत व्यवस्था थी कि मात्र कर्मों से ही वर्णभेद था, स्वभाव, गुण, चरित्र और व्यवहार में चारों की समानता उपलब्ध होती है।

सभी वर्णों में पारस्परिक गहन सामञ्जस्य
व मानवीय समानता

जैसा कि वेदों के उद्धृत मंत्रानुसार समाज की परिकल्पना शरीर से वर्णित की है। मानव शरीर को चार भागों में विभक्त कर यह

१. तं सखायः परोरुचं यूयं वयं च सूरयः ।

अश्याम वाजगन्ध्यं सनेमवाजपस्त्यम् ॥ ऋग् ६/६८/१२

समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्ते सहवो युनजिम् ।

सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अथर्व ६/३०/६

२. संसमिद्युवसे

ऋग १०/१६१ वां सम्पूर्ण सूक्त

सुसहासति ।

स्टीक कल्पित किया गया है कि यथा — शरीर का प्रत्येक अंग एक दूसरे के लिए अत्यन्त उपादेय है, कोई भी उपेक्षणीय नहीं है, यही उनकी पारस्परिक गहनता, सार्थकता, सामञ्जस्य एवं समानता है। तद्वत् यही स्वरूप एवं व्यवस्था वैदिककालीन मानव समाज में थी, जहां कोई भी वर्ण उपेक्षणीय, हेय, निम्न अथवा त्याज्य नहीं था, उनकी एक दूसरे के बिना सर्वथा अपूर्णता ही परिलक्षित होती है। ऋग्वेद का संगठन सूक्त इस अवधारणा का प्रबल परिचायक है। यजुर्वेद २६/२ की :-

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च"

इस ऋचा द्वारा समस्त वर्गों के कल्याण हेतु शिक्षा ज्ञानादि के प्रचार प्रसार का आदेश उक्त सन्दर्भ में एक सार्थक वर्णन है।

इस वैदिक वर्ण व्यवस्था के स्वरूप से विदित होता है कि वैदिककालीन मानव समाज में वेदों में प्रतिपादित मानवोचित परस्पर सामञ्जस्य, गहन सम्बन्ध, प्रगाढ़ प्रेम, सहानुभूति व सहयोग^१ की आधार वाली व्यवस्था का अक्षरशः पालन था, आज तक उसके संस्कार एवं भावनाएं न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं।

समस्त वैदिक वाङ्मय के अध्ययन पथ से गुजरने के बाद निष्कर्षतः यह कहना समीचीन होगा कि वैदिककालीन समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस वर्ण चतुष्टय की उपादेयता असन्दिग्ध थी, फलतः समाज में निष्फलहता, द्वेषरहितता, वैमनस्य का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है, वहीं यह समाज शान्ति, सुव्यवस्था, सौहार्द, सहानुभूति, प्रेम, भाईचारा तथा सहयोग पर टिका हुआ था, इसके पीछे मात्र सुन्दर वर्ण व्यवस्था का उदात्त भाव से पालन करना रहा था।

□

१. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।

रुचं विश्वेषु शुद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

यजु० १८/४८

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ।

अथर्व १६/६२/१

आश्रम व्यवस्था

प्राचीनकाल के मनीषी आचार्यों एवं समाजशास्त्रियों ने मानव जीवन को अनुशासित, निःस्पृह, निर्मोह, त्यागभाव, शिष्ट एवं सभ्यता से जीने के लिए तथा पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्ति के उद्देश्य से चार भागों में बांटकर एक वैज्ञानिक समाज संरचना प्रस्तुत की थी। “जीवेम शरदः शतम्”, “शतं वर्षाणि जीव्यासम्”, “शतायुर्वै पुरुषः” इत्यादि वेदादि धर्म शास्त्रों के अनुसार मानव जीवन सौ वर्ष का है। इस सौ वर्ष की आयु को २५-२५ वर्ष की चार अवधि को क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास के लिए निर्धारित किया गया है। इसी को आश्रम व्यवस्था कहा गया है। इन चारों आश्रमों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :-

१. ब्रह्मचर्याश्रम — जन्म से लेकर पच्चीस वर्ष का समय ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए नियत किया गया है। इस आश्रम को अन्य तीनों आश्रमों — गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास का दृढ़ आधार माना गया है। महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य आश्रम को सभी आश्रमों का मूल कहा है, क्योंकि इस आश्रम में ब्रह्मचारी को पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक ज्ञान, तप, निष्ठा एवं गुरुभक्ति से अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक इत्यादि बाह्य एवं आन्तरिक दिव्य शक्तियों का विकास करना होता है। इस अवधि में मनसा, वाचा, कर्मणा — सभी विषयवासनाओं को समाप्त करना होता है। गुरुकुल में गुरुओं का अन्तेवासी होकर ब्रह्म का आचरण करता है। ब्रह्म का अर्थ होता है — ईश्वर, ज्ञान, वीर्य तथा चर्य — अर्थात् आचरण, पालन, धारण करना। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी अपने तप, परिश्रम और कठोर साधना से लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता

है।^१ यही नहीं ब्रह्मचर्य से मृत्यु आदि शाश्वत दुख को जीता जा सकता है।^२ जो ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य जीवन के पच्चीस वर्ष तक गुरुकुल में रहकर अध्ययन समाप्त करने के बाद गुरुजनों से आज्ञा लेकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है वह "विद्यास्नात" या "उपकुर्वाण" ब्रह्मचारी कहा जाता है। जो ब्रह्मचारी गृहस्थ में न जाकर आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह "नैष्ठिक" ब्रह्मचारी कहा जाता है।

२. गृहस्थाश्रम — ब्रह्मचर्याश्रम में अपनी आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास करने के उपरान्त ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में जाने का अधिकारी बताया है। अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप कन्या से विवाह कर गृहस्थाश्रम को प्रारम्भ करने का स्पष्ट निर्देश है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि कन्या और पुरुष दोनों ब्रह्मचर्य से युक्त होकर गृहस्थाश्रम में जाए, कन्या को भी पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने के बाद अपने अनुकूल पति वरण का आदेश है।^३ इससे विदित होता है कि प्राचीन काल में बाल विवाह सर्वथा हेय रहा है।

गृहस्थाश्रम की अवधि २५ वर्ष से ५० वर्ष तक नियत की है। इस आश्रम में मानव के लिए पितृऋण, देवऋण और ऋषि ऋण, ऋषिऋण — इन तीनों ऋणों से छूटने का उपाय करने का परामर्श दिया है। श्रेष्ठ सन्तानों को प्राप्त करके उन्हें समाज, राष्ट्र एवं प्राणीजगत् के हितार्थ देना, यह गृहस्थी का मूल कर्तव्य है। उसे पञ्चयज्ञ — देवयज्ञ (अग्निहोत्र), ब्रह्मयज्ञ (संध्या), पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ करने का विधान है। यहां पर वह सामाजिक व सांसारिक अभ्युदय करे। तथा संसार का त्यागभाव से भोग करे, लिप्त न होवे। गृहस्थाश्रम को राष्ट्र का मूलाधार एवं अन्य समस्त आश्रमों को आश्रम प्रदान करने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा है।

१. ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपति।

अथर्व० ११/५/४

२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत ।

अथर्व० ११/३/१६

३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद ११/३/१८

३. वानप्रस्थाश्रम— लगभग ५०-७५ वर्ष की आयु का समय वानप्रस्थ का निश्चित किया है, अथवा जैसा कि महर्षि मनु ने मनुस्मृति में कहा है कि जब सन्तान की सन्तान हो जाए, वह समय वानप्रस्थ का समझना चाहिए।^१ अथवा आजकल यह भी माना जा सकता है कि जब सेवानिवृत्ति हो जाए वह समय वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने का है। संक्षेपतः कहना उचित होगा कि अपनी सन्तान के योग्य और समर्थ हो जाने पर गृहस्थी को स्वतः ही वानप्रस्थीय जीवन जीने के लिए तैयारी कर लेनी चाहिए।

वानप्रस्थी का मुख्य कर्तव्य है कि वह अपनी योग्यता, कृतित्व और व्यक्तित्व से समाज व राष्ट्र की यथाशक्य सेवा करे। व्रतपूर्वक सादा, संयमी जीवन विताता हुआ यज्ञ, स्वाध्याय, अध्यापन या अन्य सम्भव सेवायें जनता जनार्दन की करे। मुण्डकोपनिषद में वानप्रस्थ का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है “जो शांत स्वभाव विद्वान् लोग वन में तपः धर्मानुष्ठान और श्रद्धापूर्वक भिक्षाचरण करते हुए जंगल में वसते हैं, वहां निर्मल होकर उस पूर्ण पुरुष को प्राप्त होकर आनन्दित होते हैं।”

४. संन्यासाश्रम — ७५-१०० वर्ष की अवधि का सन्यास आश्रम का समय माना है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सन्यास आश्रम में जाने के निम्न निर्देश दिये हैं (१)— वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और सन्यास इन तीनों आश्रमों को भोगकर सन्यास ग्रहण करें। (२) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटाकर सत्य मार्ग में लगा ले अथवा (३) पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार करना चाहे तो वह सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से ही सन्यास ले सकता है, अन्यथा सन्यास दुष्कर है। शास्त्रकारों ने कहा है कि “ऋणत्रयं उपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्” अर्थात् पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण को तीनों आश्रमों में चुकाकर चतुर्थ आश्रम में मात्र परा या आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति में अधिकाधिक समय व्यतीत करे।

१. अपत्यस्य चापत्यं तदारण्यं समाचरेत्।

२. तपः श्रद्धे ये हृष्यसन्त्यरण्ये शांता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्या। मु०उ० २/११

भगवा वस्त्र उसके ज्ञानाग्नि व ब्रह्माग्नि के प्रतीक हैं। इस आश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त वह वर्ण, समुदाय और देश की सीमाओं से परे होकर उसके लिए समूचा संसार एक परिवार हो जाता है। क्योंकि वह मोह, ममता, काम, क्रोध, लाभ, मद, मत्सर, अहंकार, पुत्रैषणाम, लोकैषणा वितैषणा त्याग देने के लिए वचनबद्ध हो जाता है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि जो सांसारिक प्रपञ्च, मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मोह-मायादि में फंसे हुए हैं, जो अविद्या में डूबे हैं, जो तपस्वी, सरल, निष्पक्ष नहीं हैं, वे कदापि संन्यास योग्य नहीं हैं। क्योंकि ऐसे लोग इस लोकोपकारक, आत्मोद्धारक आश्रम की दुर्गति व बदनामी के सिवाय कुछ नहीं कर सकते।

इस प्रकार चारों आश्रमों की कार्यप्रणाली एवं स्वरूप को देखते हुए कहना उचित है कि यह पूर्णरूप से समस्त समाज को नई दिशा देने वाली व्यवस्था है। ऐतरेय ब्राह्मण के "ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्" इस उल्लेख से पता चलता है कि प्राचीनकाल से ही आश्रम पालन सामाजिक आयोजना थी। वस्तुतः यह व्यवस्था एक स्वस्थ समाज की है, जो ऊंच-नीच, भेदभाव रहित, धर्मार्थकाम मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन व प्रणाली रही है।

आश्रम व्यवस्था के अभाव में एक बड़ी विडम्बना यह है कि चारों आश्रम एक ही परिवार में हैं और चारों के पृथक्-पृथक् कार्य, रुचि, विचार एवं जीवन प्रणाली होने के फलस्वरूप परस्पर झगड़े टकराव, अनादर, उपेक्षाभाव हैं। चारों आश्रमों के होने से जहां ये एक दूसरे के कार्यो, हितों के पूरक हैं, वहीं सुख, शान्ति, सौहार्द व प्रेम के भी आधार हैं।

□

द्वितीय भाग

१७१६ १५६३

सङ्गठन-सूक्त

(ऋग्वेद-१०/१६१)

१. ✓ संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥

अन्वय एवं अर्थ

वृषन्	—	हे समस्त सुखों के बरसाने वाले
अग्ने	—	प्रकाश स्वरूप परमात्मन् !
अर्यः	—	सभी के स्वामी तुम
विश्वानि	—	समस्त तत्वों को ✓
संसमिद्युवसे	—	अच्छी तरह परस्पर मिलाकर सृष्टि का निर्माण करते हो
इडस्पदे	—	परावाक् के परम पद में
समिध्यसे	—	तुम प्रकाशमान होते हो
सः	—	वह तुम
नः	—	हमें
वसूनि	—	धन वैभव को
आभर	—	प्रदान करो

व्याख्या

इस मंत्र में परमात्मा की विराट सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि समस्त सुखों के बरसाने वाले, प्रकाशपुञ्ज तेजस्वी प्रभो ! आप समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हो। आप, समस्त प्राणियों तथा तत्वों को मिलाते हो तथा सृष्टि की रचना करते हो। चूंकि प्रभु धनैश्वर्य का स्वामी है अतः इससे प्रार्थना है कि आप हमें धन वैभव प्रदान कर सुख की वर्षा करें।

२. सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वं सज्जानाना उपासते ॥

अन्वय एवं अर्थ

सङ्गच्छध्वं	—	हे मनुष्यों ! अच्छी तरह मिलकर चलो
संवदध्वं	—	अच्छी तरह परस्पर वार्तालाप करो
वः	—	तुम्हारे
मनांसि	—	चित्त
सं जानतां	—	एक समान अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करें
यथा	—	जैसे
पूर्वं	—	पूर्व
देवाः	—	विद्वान्, ज्ञानी
भागं	—	ऐश्वर्यशाली प्रभु को
जानानाः	—	जानते हुए
समुपासते	—	उपासना करते हुए आए हैं ।

व्याख्या

यहां स्पष्ट किया है कि हे मनुष्यो ! इस समाज एवं संसार में तुम परस्पर मिलकर चलो । परस्पर बैठकर अच्छी तरह वार्तालाप करो । तुम्हारे चित्त मन एक समान होकर अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करें । जिस प्रकार पूर्व विद्वान् ज्ञानवान् पुरुष उस ऐश्वर्यशाली परमात्मन् को अच्छी तरह जानकर उपासना करते आए हैं, उसी प्रकार तुम भी उन कर्तव्य परायण पुरुषों का अनुकरण करें ।

३. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेवम् ।
समानं मन्त्रमग्नि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

अन्वय एवं अर्थ

एषां	—	इन सभी का
मन्त्रः	—	विचार
समानः	—	समान हो

समिति:	—	समिति या सभा
समानी	—	समान हो
मन:	—	मन
समानं	—	समान हो
चित्तं	—	चित्त
सह	—	एक साथ या समान उद्देश्य वाला हो
व:	—	हे मनुष्यो ! तुम्हें
समानं	—	समान
मन्त्रं	—	विचार वाला
अभिमन्त्रये	—	बनाता हूँ
व:	—	तुम्हें
समानेन	—	समान
हविषा	—	खान-पान आदि भोग्य सामग्री से
जुहोमि	—	युक्त करने की प्रेरणा देता हूँ।

व्याख्या

प्रभु की ओर से सभी के लिए न्यायप्रियता प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सभी मनुष्यों के विचार समान हों, इनकी सभा एक समान भाव का व्यवहार करने वाली हो, सभी के मन और चित्त के भाव भी समान होने चाहिए। प्रभु की ओर से सभी के लिए खान-पान आदि भोग्य सामग्री समान भाव से संसार में प्रस्तुत की गई है तथा सभी की विचारधारा भी प्रारम्भ से समान ही वितरित है। इस तरह सभी के साथ मेरा व्यवहार समान है। अतः मनुष्यों में भी समानता आनी चाहिए।

४. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

अन्वय एवं अर्थ

वः	—	तुम्हारे
आकूतिः	—	संकल्प एवं भाव
समानी	—	समान हों

वः	—	तुम्हारे
हृदयानि	—	हृदय
समाना	—	समान रूप से मिले हों
वः	—	तुम्हारे
मनः	—	मन
समानं	—	समान हों
यथा	—	जिससे
वः	—	तुम लोग भी
सुसहासति	—	बहुत अच्छी तरह मिलकर रहो ।

व्याख्या

इस मंत्र में सभी में परस्पर समानता का भाव जाग्रत हो इस विचारधारा की पुष्टि एवं वृद्धि हो, को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि हे मनुष्यो ! तुम्हारे संकल्प समान हों, तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हों तथा तुम्हारे मन के भाव समानता के सेतु हों, जिस कारण से तुम लोग परस्पर मिलकर एक होकर रहो और सुख शान्ति का वातावरण प्रस्तुत करो ।



सामनस्य-सूक्त

अथर्ववेद - ३/३०/१-७

१. ^{मन}सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्या ॥

अन्वय एवं अर्थ

सहृदयं	—	एक हृदयता या सुन्दर हृदयता
सामनस्यं	—	एक मनता, या सौमनस्य
अविद्वेषं	—	निर्वैरता
वः	—	आपके लिए
कृणोमि	—	करता हूं या प्रदान करता हूं
अन्यो अन्यं	—	एक दूसरे के लिए
अभि	—	हर प्रकार या चारों ओर से
हर्यत	—	प्रीति से चाहो
अध्या	—	न मारने योग्य अबध्या गौ ✓
इव	—	जैसे
जातं	—	उत्पन्न
वत्सं	—	बछड़े को (प्रेम करती है)।

व्याख्या

इस मंत्र में परमात्मा की ओर से मनुष्य जाति के लिए उपदेश दिया गया है कि सभी मनुष्य वेद की शिक्षाओं को ग्रहण करते हुए परिवार, समाज, राष्ट्र एवं संसार में परस्पर एक हृदय तथा एक मन या विचारधारा वाले होकर निर्वैरता के साथ व्यवहार करें। एक दूसरे के साथ उसी प्रकार का प्रीतिपूर्वक व्यवहार करें जैसे अबध्या गौ अपने बछड़े को स्नेहसिक्त प्यार करती है, दुलारती और रक्षा करती है।

crat
mlr.
J

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

अन्वय एवं अर्थ

पुत्रः	—	पुत्र
पितुः	—	पिता के
अनुव्रतः	—	अनुकूल व्रती होकर
मात्रा	—	माता के साथ
संमना	—	एक मन वाला या सौमनस्य वाला
भवतु	—	होवे
जाया	—	पत्नी
पत्ये	—	पति के लिए
मधुमतीं	—	मधु के सदृश मधुर
शान्तिवां	—	शान्तिपूर्ण
वाचं	—	वाणी को
वदतु	—	बोले ।

व्याख्या

यहां पर माता-पिता, पुत्र और पति-पत्नी के बीच चलने वाली स्वर्णिम शिक्षा के एक अनूठे दृश्य की अवधारणा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है कि परिवार में पुत्र माता-पिता का आज्ञाकारी हो और उनके अनुकूल व्रतों को पालनकर्ता एवं विशेषकर माता के साथ सद्व्यवहारी होवे । पति-पत्नी सदा एक दूसरे के साथ मधु सदृश मधुर एवं शान्तिदायक वाणी को बोलें ।

crat
mlr.
J

३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा रुवसारमुत रुवसा ।
सभ्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

अन्वय एवं अर्थ

भ्राता	—	भाई
भ्रातरं	—	भाई से
मा	—	नहीं

द्विक्षत्	—	द्वेष करे
उत	—	तथा
स्वसा	—	बहन
स्वसारं	—	बहन से
मा	—	नहीं (द्वेष करे)
सम्यज्च:	—	परस्पर मेल मिलाप
सव्रता:	—	एक व्रती, सुन्दर व्रत वाले या समान व्रती
भूत्वा	—	होकर
भद्रया	—	कल्याणमय व्यवहार के साथ
वाचं	—	वाणी को
वदत	—	बोलो ।

व्याख्या

परिवार की उसी कल्याणमयी भावना एवं प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि भाई अपने दूसरे भाई से कभी द्वेष न करे उसी प्रकार एक बहन दूसरी बहन से कदापि द्वेष न करे । इसके साथ ही सभी लोग एक विचारधारा वाले तथा समान मन वाले होकर परस्पर सुख बरसाने वाली वाणी बोल कर भद्र व्यवहार करें ।

४. येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृष्णो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अन्तय एवं अर्थ

देवा:	—	विद्वान् लोग
येन	—	जिस वेद मार्ग के
न वियन्ति	—	विरुद्ध नहीं चलते
च	—	और
नो	—	न कभी
मिथः	—	परस्पर
विद्विषते	—	विद्वेष करते हैं

तत्	—	उस
ब्रह्म	—	वेद मार्ग को
वः	—	तुम्हारे
गृहे	—	घर में
पुरुषेभ्यः	—	लोगों के लिए
संज्ञानं	—	यथार्थ ज्ञान को
कृण्वः	—	हम भी प्रस्तुत करते हैं।

व्याख्या

इस मंत्र में उल्लेख है कि विद्वान् लोग वेद ज्ञान के अनुसार ही अनुगमन करते हैं। वे यह अच्छी तरह समझते हैं कि विरुद्ध कार्य करने से अवनति ही होती है। इसके अतिरिक्त वे परस्पर द्वेष की भावना भी नहीं रखते, जिस वेदज्ञान से सदा उन्नत होते हैं उसके द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान को भी प्रत्येक मनुष्य के घर तक हम लोग पहुंचाना चाहते हैं।

५. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्यु वदन्त एत सघीचीनान् वसंमनसरकृणोमि ॥

अन्वय एवं अर्थ

ज्यायस्वन्तः	—	ज्येष्ठ लोगों का सम्मान करने वाले
चित्तिनः	—	उत्तम चित्त वाले
संराधयन्तः	—	वैभव एवं ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले
सधुराः	—	एक धुरी वाले होकर या मेल भाव वाले होकर
चरन्तः	—	इस प्रकार आचरण करने वाल होकर तुम लोग
मा	—	नहीं
वियौष्ट	—	अलग होओ
अन्यो अन्यस्मै	—	एक दूसरे से
वल्यु	—	शालीन एवं मनोहर
वदन्तः	—	वाणीगत व्यवहार करते हुए
एत	—	आओ

वः	— आपको
सधीचीनान्	— साथ-साथ व्यवहार वाले
संमनसः	— एक मन वाले
कृणोमि	— करता हूं।

व्याख्या

मंत्र का सन्देश है कि जो मनुष्य अपने से बड़ों का सदा सम्मान करने वाले हैं, उदात्त चित्त व हृदय वाले हैं, समाज एवं राष्ट्र में सुख समृद्धि, वैभव, ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले हैं और एक मेल-जोल की भावना रखते हैं, ऐसे लोग परस्पर एक दूसरे से इस वैर-भाव या स्वार्थ के वशीभूत होकर अलग न होंगे तथा एक-दूसरे से मधुर एवं शालीन वाणी बोलकर सुन्दर व्यवहार करें ऐसी प्रेरणा प्रभु की ओर से है।

६. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं समर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

अन्वय एवं अर्थ

वः	— आपके
प्रपा	— जल भण्डार
समानी	— बिना भेद भाव के एक हों
अन्नभागः	— अन्न का भाग
सह	— साथ-साथ हो
समाने	— एक समान ही
योक्त्रे	— जोते या ग्रन्थियों में
वः	— आपको
सह	— साथ-साथ
युनज्मि	— जोड़ता हूं
सम्यञ्चः	— सभी मिलकर
अग्निं	— परमात्मा या अग्नि की
समर्यत	— उपासना करें

इव	—	जैसे
अराः	—	अरे
नाभिं	—	नाभि या केन्द्र में
अभितः	—	चारों ओर से सटे हुए हैं।

व्याख्या

इस मंत्र में परस्पर मेल-जोल को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि हे मनुष्यो ! जैसे पहिए में अरे एक नाभि या केन्द्र में सटकर समस्त रथ या वाहन के भार को वहन करने में समर्थ एवं सहयोगी हो जाते हैं वैसे ही तुम सभी लोग अपने-अपने कर्तव्य मार्ग पर चलते हुए सभी के साथ खान पान आदि में बिना भेदभाव के रहकर एक अग्नितत्व जो परमेश्वर और यज्ञ की अग्नि का द्योतक है, की उपासना नित्य कर अपने परलोक को सदा उज्ज्वल करें।

१०. सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीनत्संवनेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसौ वो अस्तु ॥

अन्वय एवं अर्थ

संवनेन	—	यथावत् व्यवहार से
वः	—	तुम
सर्वान्	—	सभी को
सध्रीचीनान्	—	साथ साथ व्यवहार एवं ज्ञान वाले
संमनसः	—	एक मन वाले
एकश्नुष्टीन्	—	एक भोज्य वाले
कृणोमि	—	करता हूँ
देवाः	—	विद्वानों की
इव	—	तरह
अमृतम्	—	अमरता की
रक्षमाणाः	—	रक्षा करने वाले या प्राप्त करने वाले रहो
सायं प्रातः	—	सायं प्रातःकाल में

सौमनसः	— सौमनस्य या चित्त प्रसादता
वः	— तुम्हें
अस्तु	— होवे।

व्याख्या

परमात्मा की ओर से सन्देश है कि मेरे शासन में या निर्देश में आप सभी का समान व्यवहार बना रहे, एक मन वाले रहें, एक समान ज्ञान में रहें तथा बिना किसी भेदभाव के एक भोज्य स्थिति में रहें, ऐसी प्रेरणा एवं व्यवस्था मैं करता हूँ। इसके साथ ही चूंकि जीवात्मा अजर अमर है अतः इस संसार में न फंसते हुए आप लोग अपनी स्वाभाविक अमरता की रक्षा करें, और आप सभी आध्यात्मिक मूल्यों का पालन करते हुए सायं प्रातः इत्यादि सभी कालों में सदा आपको चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होवे।



केनोपनिषद्

प्रथमः खण्डः

१. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति,

चक्षुः श्रोत्रं का उ देवो युनक्ति ॥

अन्तय एवं अर्थ

केन	—	किससे या किसके द्वारा
प्रेषितं	—	प्रेरित
मनः	—	मन
इषितं	—	अभिलषित विषय को
पतति	—	प्राप्त होता है या गिरता है
केन	—	किससे या किसके द्वारा
युक्तः	—	जुड़ा हुआ
प्रथमः	—	मुख्य
प्राणः	—	प्राण-वायु
प्रैति	—	विशेषता से चलता है
केन	—	किससे या किसके माध्यम से
इषितां	—	प्रेरित
इमां	—	इस
वाचं	—	वाणी को
वदन्ति	—	(मनुष्य) बोलते हैं
चक्षुः	—	नेत्रेन्द्रिय
श्रोत्रं	—	कर्णेन्द्रिय को

उ	—	निश्चय ही
कः	—	कौन
देवः	—	देव
युनक्ति	—	कार्यों में लगाता है या जोड़ता है।

व्याख्या

इस उपनिषद् के प्रारम्भ में शरीरादि महत्वपूर्ण अवयवों के सञ्चालक ब्रह्म के सम्बन्ध में एक सारगर्भित चर्चा गुरु और शिष्य के संवाद सन्दर्भ में हुई है, तो शिष्य गुरु से जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहता है कि गुरुदेव ! यह मन किसी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हेतु दौड़ता है तो किसके माध्यम से ? सभी प्राणियों में विराजमान मुख्य प्राण किसके द्वारा अपना कार्य व्यापार करता है? प्राणी किसकी प्रेरणा से बोलते रहते हैं और आंख, कान को कौन ऐसा देव है जो विषयों या कार्यों के प्रति लगाता रहता है ? अभिप्राय है कि इन समस्त गतिविधियों के पीछे कौन ऐसी अदृश्य शक्ति है जिसके कारण सभी अंग-प्रत्यंग कार्य करते रहते हैं?

२. श्रोत्रस्य श्रोतं मनसो मनो

यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।

चक्षुषः चक्षुरतिमुच्य धीराः,

प्रेत्यारम्भाल्लोकादमृता भवन्ति ॥

अन्वय एवं अर्थ

यत्	—	जो
श्रोत्रस्य	—	कर्णेन्द्रिय का
श्रोत्रं	—	श्रवण शक्ति केन्द्र या कारण
मनसः	—	मन का
मनः	—	मन अथवा शक्ति केन्द्र या मूल
वाचः	—	वाणी का
वाचं	—	वाक् या वाक् शक्ति कारण
प्राणस्य	—	प्राण का

- प्राणः — प्राण या प्राण शक्ति पुञ्ज
 उ — और
 चक्षुषः — चक्षु इन्द्रिय का
 चक्षुः — नेत्र या दर्शन शक्ति स्थल है
 सः — वह
 ह — निश्चित रूप से (सभी का अदृश्य कारण है, ऐसा जानकर)
 धीराः — विद्वान् लोग
 अतिमुच्य — सांसारिक विषय वासनाओं से अलग होकर
 अस्मात् — इस
 लोकात् — लोक से
 प्रेत्य — जाने के पश्चात् (मृत्यु के बाद)
 अमृताः — अमृत स्वरूप (जन्म मृत्यु के बन्धन से रहित)
 भवन्ति — हो जाते हैं।

व्याख्या

पूर्व निर्दिष्ट प्रश्नों के उत्तर में गरु के द्वारा समाधान किया गया है कि समस्त इन्द्रियों का प्रेरक मात्र परमात्मा है, श्रवण शक्ति के रूप में वही है, मन का भी मन वही है। वाणी अपना जो भी कार्य करती है, उसके पीछे वही अदृश्य शक्ति है। वही नेत्रों का नेत्र और प्राणों का अधिपति भी वही है। इस रहस्य को जो विद्वान् जान जाते हैं, वे इस संसार के मोह-ममता, बन्धन, विषयवासना से ऊपर उठकर जीवन जीते हैं तथा शरीर छोड़ने के अनन्तर शाश्वत आनन्द में रहते हैं, जहां किसी भी प्रकार का क्लेश, दुख, बन्धन नहीं होता।

३. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विदमो
 न विजानीमो ययैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधि।
 इति शुश्रुम पूर्वेण ये नस्तद् व्याचक्षिरे ॥

अन्वय एवं अर्थ

- तत्र — वहां (उस ब्रह्म तक)
 चक्षुः — नेत्र इन्द्रिय

न	—	नहीं
गच्छति	—	जा सकती है
न	—	नहीं
वाक्	—	वाणी
गच्छति	—	पहुंच सकती है
न	—	नहीं (जान सकता है)
मनः	—	मन या अन्तःकरण
न	—	नहीं, (इस कारण)
विद्मः	—	हम लोग इन्द्रियादि से जान सकते हैं
न	—	नहीं
विजानीमः	—	उपदेशादि से जान सकते हैं
तद्	—	वह
विदितात्	—	जाने हुए से (दृश्य)
अन्यत्	—	अदभुत है
अथो	—	और
अविदितात्	—	न जाने हुए से (अदृश्य से)
अधि	—	ऊपर है
इति	—	इस प्रकार
पूर्वेषां	—	पूर्व आचार्यों से
शुश्रुम	—	सुनते आए हैं
ये	—	जिन गुरुओं ने
नः	—	हम लोगों को
तद्	—	उस ब्रह्मतत्त्व को
व्याचक्षिरे	—	अच्छी तरह समझाया है।

व्याख्या

गुरु के द्वारा समाधान में आगे बताया गया है कि उस ब्रह्म तक न तो चक्षु ही जा पाती है और न ही वाणी एवं मन। उसको किसी भी सांसारिक वस्तु से नहीं देखा या जाना जा सकता है। तथा किसी के उपदेश या व्याख्यान से भी उसे नहीं जाना जा सकता है। वह दृश्यादृश्य

चीजों से भी सर्वथा ओझल है। ऐसा हमारे पूर्वाचार्यों ने भी हमें प्रायः बहुत समझाया है, जिन्होंने ब्रह्म के मार्ग की गुत्थियों को सरल तरीके से सुलझाया है।

४. यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अन्वय एवं अर्थ

यद्	—	जो ब्रह्म
वाचा	—	वाणी के द्वारा
अनभ्युदितं	—	नहीं कहा जा सकता
येन	—	जिस ब्रह्म के द्वारा
वाक्	—	वाणी
अभ्युद्यते	—	कही जा सकती है
तदेव	—	उसी
ब्रह्म	—	ब्रह्म को
त्वं	—	तुम
विद्धि	—	जानो
यत्	—	जो
इदं	—	यह वाक् विषयगत पदार्थों की
उपासते	—	उपासना की जाती है
इदं	—	यह ब्रह्म
न	—	नहीं है।

व्याख्या

इसमें कहा गया है कि ब्रह्म वाणी अर्थात् व्याख्यानादि से कथापि ज्ञेय नहीं है, अपितु, उससे तो वाणी का ही प्रकाशन होता है। उसी की शक्ति से वक्ता बोलने में समर्थ हो पाता है, अतः वही वस्तुतः ब्रह्म है उसी को जानने में सर्वदा प्रयास कर।

५. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अन्तर्य एवं अर्थ

यत्	—	जिस ब्रह्म को
मनसा	—	मन अन्तःकरण से
न	—	नहीं
मनुते	—	जाना जा सकता है
येन	—	जिस ब्रह्म से
मनः	—	मन
मतं	—	जाना गया
आहुः	—	कहा है
तदेव	—	उसी
ब्रह्म	—	ब्रह्म को
त्वं	—	तुम
विद्धि	—	जानो
यत्	—	जो
इदं	—	मनगत विषयों व पदार्थों की
उपासते	—	उपासना की जाती है
इदं	—	यह ब्रह्म
न	—	नहीं है ।

व्याख्या

यहां पर आचार्य ने मन के ऊपर प्रकाश डालते हुए कहा है कि उस सर्वशक्तिमत् ब्रह्म को मन या अन्तःकरण कभी भी नहीं जान सकता । मन तो स्वयं ही उस अनन्त शक्ति से प्रभावित होकर मनन किया करता है । जो सामान्य और मूढ़मति लोग मनगत विषय को ही उपास्य समझते हैं वह ब्रह्म नहीं हैं । अतः जिस ब्रह्म से मन अन्तःकरण इत्यादि समस्त अवयव मनन शक्ति सम्पन्न होते हैं उसी ब्रह्म को जानना अपेक्षित है ।

६. यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अन्वय एवं अर्थ

यत्	—	जिस ब्रह्म को
चक्षुषा	—	आंख के द्वारा
न	—	नहीं
पश्यति	—	देखा जा सकता है
येन	—	जिस ब्रह्म शक्ति से
चक्षुषि	—	नेत्र
पश्यन्ति	—	देखते हैं
तदेव	—	उसी
ब्रह्म	—	ब्रह्म को
त्वं	—	तुम
विद्धि	—	जानो
यत्	—	जो
इदं	—	चक्षुषिषयगत पदार्थों की
उपासते	—	उपासना की जाती है
इदं	—	यह ब्रह्म
न	—	नहीं है ।

व्याख्या

गुरु ने उपदेश दिया कि ब्रह्म निराकार है, अशरीर और बन्धनातीत है। यही कारण है कि वह अगोचर है आँख से दृश्य नहीं है। आँख तो स्वयं उसी के नियमों में बँधी होकर अपना दर्शन कार्य करती है और जो सामान्य जन चक्षुगत पदार्थों में उपासना कर प्रसन्न होते हैं, तो समझो वह ब्रह्म नहीं है।

७. यत् श्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अन्वय एवं अर्थ

यत्	—	जिस ब्रह्म को
श्रोत्रेण	—	श्रोत्र के द्वारा

न	—	नहीं
शृणोति	—	(कोई) सुनता है
येन	—	जिससे
इदं	—	यह
श्रोत्रं	—	कर्ण इन्द्रिय
श्रुतं	—	श्रवण शक्ति प्राप्त करता है
तदेव	—	उसी
ब्रह्म	—	ब्रह्म को
त्वं	—	तुम
विद्धि	—	जानो
यद्	—	जो
इदं	—	श्रोत्र जन्य विषयों की
उपासते	—	उपासना करते हैं
इदं	—	यह ब्रह्म
न	—	नहीं है।

व्याख्या

पूर्व प्रकरणानुसार यहां भी कहा गया है कि उस परम पिता परमेश्वर को कोई भी कर्णेन्द्रिय के माध्यम से नहीं सुन सकता है, बल्कि कर्णेन्द्रिय में जो श्रवण शक्ति विद्यमान है, वह उसी ब्रह्म की है। अतः उसी ब्रह्म को जाना जाए। और जो सामान्य जन कर्णगत विषयों की पूजा उपासना में ही रहते हैं उसका नाम ब्रह्म नहीं है।

~~६.~~ यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अन्तय एवं अर्थ

यत्	—	जो ब्रह्म
प्राणेन	—	प्राण के द्वारा
न	—	नहीं

प्राणिति	—	चलायमान होता है
येन	—	जिसके द्वारा
प्राणः	—	प्राण
प्राणीयते	—	प्राणन क्रिया करता है
तदेव	—	उसी ब्रह्म को
त्वं	—	तुम
विद्धि	—	जानो
यत्	—	जो
इदं	—	इस प्राण वायु गत तत्वों की
उपासते	—	उपासना करते हैं
इदं	—	यह ब्रह्म
न	—	नहीं है।

व्याख्या

यहां पर कहा गया है कि वह ब्रह्म प्राण के द्वारा नहीं चलता है, अपितु प्राण वायु की जो संचरण क्रिया होती है वह उसी निराकार ब्रह्म के द्वारा होती है, वह तो स्वयं प्राण-अपानादि के नियमों का नियन्त्रक है, अतः उसी ब्रह्म को जानना चाहिए और जो सामान्य जन प्राण वायुगत तत्वों की उपासना करने में ही लीन रहते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वह ब्रह्म कदापि नहीं है।

द्वितीयः खण्डः

१. यदि मन्यसे सुवेदेति दभमेवापि,
 नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
 यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु,
 मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥

अन्वय एवं अर्थ

यदि	—	यदि
त्वं	—	तुम

इति	—	यह
मन्यसे	—	मानते हो कि
अस्य	—	इस
ब्रह्मणः	—	ब्रह्म का
रूपं	—	स्वरूप
सुवेद	—	मैं जानता हूं
अपि	—	तो
नूनं	—	निस्सन्देह
दम्रं	—	थोड़ा सा
एव	—	ही
वेत्थ	—	जानते हो
अथ	—	और
नु	—	निश्चय से
यत्	—	जो
अस्य	—	इस ब्रह्म का स्वरूप
देवेषु	—	विद्वानों में
विदितं	—	विद्या एवं ज्ञान से जाना गया है।
ते	—	तेरे लिए
मीमांस्यं	—	तर्क एवं युक्तिपूर्वक विचारणीय है

व्याख्या

यहां गुरु शिष्य को समझाते हैं कि वत्स जो लोग इस सर्वज्ञ ब्रह्म के स्वरूप को जानने का दावा करते हैं या जानने की घोषणा कर अभिमान या दम्भ भरते हैं ऐसे लोगों ने मात्र मिथ्या कहा है या अत्यन्त अल्प ही जाना है, और जो ब्रह्म का स्वरूप आप्त पुरुषों योगियों में यथार्थ विदित है, उस ब्रह्म के स्वरूप को अपनी ऋतम्भरा मेधा एवं तर्क युक्तिपूर्ण विचार कर मनन करना चाहिए।

२. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद वेद तद वेद नो न वेदेति वेद च ॥

अन्तय एवं अर्थ

अहं	—	मैं
सुवेद	—	ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ
इति	—	ऐसा
न	—	नहीं
मन्ये	—	मानता, और
न	—	नहीं
वेद	—	जानता
इति	—	ऐसा भी
नो	—	नहीं
वेद च	—	और ब्रह्म है यह जानता है
नः	—	हम लोगों में से
यः	—	जो
तद्वेद	—	उसको जानता है
तद्वेद	—	उस ब्रह्म को जानता है
न वेदेति	—	ब्रह्म को नहीं जानता, ऐसा भी
नो वेद	—	नहीं जानता या मानता हूँ।

व्याख्या

इस मंत्र में बताया गया है कि जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष होता है वह कदापि स्वयं नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानता हूँ क्योंकि वह अच्छी तरह समझता है कि ब्रह्म अनन्त है तथा यह भी नहीं कहता कि मैं उस परम ज्योति को नहीं जानता और यह निश्चित है कि जो ब्रह्म को जानने की बात कहने वाला उनके विपरीत आचार व्यवहार करता है समझो वह ब्रह्म को जानने का ढोंग रचता है।

३. यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

अन्तय एवं अर्थ

यस्य	—	जिस ब्रह्मवेत्ता का
अमतं	—	ब्रह्म को नहीं जानता, ऐसा मत है
तस्य	—	उसको
मतं	—	ब्रह्म का ज्ञान है, और
यस्य	—	जिसका
मतं	—	यह विचार है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है
सः	—	वह
न	—	नहीं
वेद	—	जानता है
विजानतां	—	जानने का गर्व करने वालों के लिए
अविज्ञातं	—	वह ब्रह्म जाना हुआ नहीं है, और
अविजानतां	—	जिनमें ब्रह्मज्ञान का अभिमान नहीं है, उन्हें
विज्ञातं	—	ब्रह्म जाना हुआ है।

व्याख्या

इस सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट होती है कि जो ब्रह्मवेत्ता विनम्र है, निरहंकारी है, अदम्भी है, उसे निश्चित रूप से ब्रह्मवेत्ता कहा है और जो ब्रह्म ज्ञान होने की घोषणा करता रहता है, अहंकारी, दम्भी या दिखावे में आ गया है, आध्यात्मिक दृष्टि से उसे आचार्य ने ब्रह्मवेत्ता न होने की जानकारी से अवगत करा दिया है। क्योंकि आध्यात्म क्षेत्र में तो विनम्र भावों की अत्यन्त उपादेयता है।

१५०१२

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते मृतम् ॥

अन्तय एवं अर्थ

प्रतिबोधविदितं	—	ब्रह्म के प्रति मनन से उत्पन्न ज्ञान
मतं	—	यथार्थ ज्ञान है
हि	—	क्योंकि उससे ही

अमृतत्वं	—	अमरत्व या मोक्ष को
विन्दते	—	प्राप्त किया जाता है
आत्मना	—	आत्मज्ञान से
वीर्यं	—	ब्रह्म शक्ति को
विन्दते	—	प्राप्त करता है
विद्यया	—	ब्रह्म ज्ञान या परा विद्या से
अमृतं	—	जन्म मरणादि दुख रहित मोक्ष को
विन्दते	—	प्राप्त करता है।

व्याख्या

उक्त सन्दर्भ से विदित हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान में प्रतिबोध की अत्यन्त उपयोगिता होती है। प्रतिबोध का अभिप्राय एक तो बार-बार मनन है और दूसरा उस ब्रह्म (परम लक्ष्य है) के प्रति अनवरत बोध। इससे स्पष्ट हुआ कि ब्रह्म के प्रति बार-बार मनन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही यथार्थ है। वस्तुतः उसी से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, इसके साथ ही पराविद्या व आत्मज्ञान से ब्रह्मशक्ति व उसके स्वरूप का भी बोध होता है।

५. **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,**

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः,

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

अन्वय एवं अर्थ

चेत्	—	यदि
इह	—	इस मनुष्य शरीर में या इसी जन्म में
अवेदीत्	—	ब्रह्म तत्त्व को जान लिया
अथ	—	तब तो
सत्यमस्ति	—	ठीक है या सार्थकता है
चेत्	—	यदि
इह	—	इस मानव योनि में
अवेदीत्	—	ब्रह्म को जाना

न	—	नहीं, तो
महती	—	बहुत बड़ी
विनष्टिः	—	हानि है, इसलिए
धीराः	—	विद्वान् लोग
भूतेषु भूतेषु	—	समस्त प्राणियों एवं भूत तत्वों में
विचित्य	—	ब्रह्म को जानकर
अस्मात्	—	इस
लोकात्	—	संसार से
प्रेत्य	—	देह त्याग करके अथवा प्रयाण करके
अमृताः	—	अमर या मुक्त
भवन्ति	—	हो जाते हैं।

व्याख्या

शास्त्रकारों ने स्वस्थ मानव जीवन को दुर्लभ बताते हुए इसका परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरणादि दुख से सर्वथा विमुक्ति है। मानव जीवन में ही मुक्ति सम्भव है, इसी योनि में यदि ब्रह्म के स्वरूप को भली भाँति जान लिया है तो समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का मानव जीवन निस्सन्देह सार्थक हुआ और यदि इसी मानव जीवन में ब्रह्म को नहीं जाना या प्रयास नहीं किया तो निश्चित रूप से बहुत बड़ी हानि हुई, क्योंकि आखिर साथ क्या गया ? इसलिए बुद्धिमान पुरुष समस्त चराचर जगत् में उस अनन्त ब्रह्म को अच्छी तरह जानकर इस दुखातिशय जगत् से देह त्याग कर अमर हो जाते हैं, मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं।

तृतीयः खण्डः

१. ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।
त ऐशान्तर-माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥

अन्वय एवं अर्थ

ब्रह्म	—	परमात्मा ने
ह	—	ही
देवेभ्यः	—	देवों के लिए

विजिग्ये	—	(राक्षसों पर) विजय प्राप्त की
ह	—	किन्तु या निश्चय से
तस्य	—	उस
ब्रह्मणः	—	ब्रह्म की
विजये	—	जीत पर
देवा	—	देवों ने
अमहीयन्त	—	(अपनी) महिमा समझ लिया
ते	—	उन देवों ने
ऐक्षन्त	—	समझा कि
अयं	—	यह
विजयः	—	जीत
अस्माकं	—	हमारी
एवं	—	ही है
अयं	—	यह
अस्माकं	—	हमारी
एव	—	ही
महिमा इति	—	महिमा है ।

व्याख्या

यह तो सर्वविदित है, जो देवासुर संग्राम हुआ, उसमें असुरों की प्रायः हार हुई सी रहती थी, लेकिन देवों की प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष शक्ति सम्पन्नता ब्रह्म से प्राप्त होती रही, ऐसी स्थिति में असुरों की पराजय होती थी, तब देवों ने विचार किया कि सम्पूर्ण महिमा एवं बड़प्पन हमारा ही है, अतः उनका अभिमानी होना स्वाभाविक था ही। उस समय वे अनन्त शक्ति के स्वामी ब्रह्म को प्रायः छोटा मानते या भूल जाते रहे।

२. तद्धैषां विजङ्गौ तेभ्यो ह प्रादुर्भव ।
तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥

अन्वय एवं अर्थ

तत्	—	उस ब्रह्म ने
ह	—	निश्चय से

एषां	—	(देवों की) उस अंहकारी प्रवृत्ति को
विजज्ञौ	—	सम्यक्तया जान लिया
तेभ्यः	—	उनके सामने
ह	—	निश्चय से
प्रादुर्बभूव	—	पैदा हो गए, प्रकट हुए
तत्	—	उस ब्रह्म को
न	—	नहीं
व्यजानत	—	जाना कि
इदं	—	यह
यक्षं	—	यक्ष
किं इति	—	कौन है ऐसा।

व्याख्या

जब देवों को अपनी शक्ति एवं महिमा का अभिमान हो गया तो परमात्मा इन देवों के अभिमान को जानते हुए उनके समक्ष यक्ष के रूप में उपस्थित हुए, लेकिन देवों ने उनके वास्तविक स्वरूप को जानने से इन्कार कर दिया। यहां पर सामान्य जन को भी समझाने की दृष्टि से यह आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत किया है जो यद्यपि यथार्थ न होकर इसके माध्यम से यह समझाना चाहते हैं कि किस प्रकार उन अभिमानी देवों का मान मर्दन किया गया है।

३. तेऽग्निमुब्रुवन् जातवेद एतद् विजानीहि किञ्चेत्तदयक्षमिति तथेति ।

अन्वय एवं अर्थ

ते	—	वे सभी देव
अग्निं	—	अग्नि देव को
अब्रुवन्	—	बोले
जातवेद	—	हे जातवेद !
एतत्	—	यह
विजानीहि	—	जानिए या पता लगाइए कि

यक्षं	—	यक्ष - दिव्य स्वरूप
किं	—	कौन है
इति	—	ऐसा
तथेति	—	बहुत अच्छा ।

व्याख्या

यहां पर इस कथानक के माध्यम से कहा गया है कि उस यक्ष को सामने आया हुआ देखकर सभी देवों ने सर्वप्रथम अग्निदेव को यह आदेश दिया कि हे अग्निदेव ! आप यह पता लगाएं कि यह दिव्य यक्ष है कौन? ऐसा सुनकर उसने कहा ठीक है मैं मालूम करता हूं।

४. तर्देभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥

अन्वय एवं अर्थ

तद्	—	उसके पास
अभ्यद्रवत्	—	दौड़कर गया
तं	—	उस अग्निदेव से
अभ्यवदत्	—	यक्ष ने कहा
कः	—	(तुम) कौन
असि इति	—	हो, ऐसा
वै	—	निश्चय कर तब
अग्निः	—	अग्निदेव
अब्रवीत्	—	बोला
अहं	—	मैं
अस्मि	—	(अग्नि) हूं
अहं	—	मैं
जातवेदा	—	जातवेदा के नाम से
वै अस्मि	—	प्रसिद्ध हूं
इति	—	ऐसा कहा ।

व्याख्या

अग्निदेव दौड़ा-दौड़ा दिव्य यक्ष के पास गया वहा पर यक्ष ने अग्नि से तुरन्त प्रश्न किया कि आप कौन हैं ? अग्नि ने बड़े गर्व से कहा कि मैं हूं अग्नि और मुझे इस संसार में जातवेदा के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है।

५. तस्मिन् त्वयि किं वीर्यमिति ।
अपीदं सर्वं दहेयं, यदिदं पृथिव्यामिति ॥

अन्तय एतं अर्थ

तस्मिन्	—	तुझ प्रसिद्ध देव अग्नि में
किं	—	क्या
वीर्यं	—	शक्ति या पराक्रम है
इति	—	यह बता
अपि	—	यदि या निश्चय करके
यत्इदं	—	जो कुछ भी यह
पृथिव्यां	—	पृथ्वी पर है
इदं सर्वं	—	इस सब को
दहेयं इति	—	जलाकर भस्म कर सकता हूं।

व्याख्या

जैसे ही अग्नि के मिथ्या अभिमान की बातें दिव्य यक्ष ने सुनीं तो यक्ष ने अग्नि से कहा कि हे अग्निदेव ! आपमें कितनी शक्ति है अथवा आपका क्या पराक्रम है, आप क्या कर सकते हैं? इतना यक्ष के कहने के उपरान्त अग्नि ने अपने गर्वपूरित स्वर में कहा कि इस पृथ्वी पर जो कुछ है, उसे यदि मैं चाहूं तो जलाकर भस्म कर सकता हूं, यह मेरी शक्ति है।

६. तस्मै तृणं निदधावेतददहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन
तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥

अन्तय एवं अर्थ

तस्मै	—	(उस यक्ष ने) उस अग्नि देव के लिए
तृणं	—	एक तिनका
निदधौ	—	रख दिया
एतद्	—	इसको
दह इति	—	जला दे, ऐसा कहा
तत्	—	उस तिनके के
सर्वजवेन	—	सम्पूर्ण वेग से
उपप्रेयाय	—	समीप गया
तत्	—	उस तिनके को
दग्धुं	—	जलाने के लिए
न शशाक	—	समर्थ न हो सका
ततः एव	—	उसके बाद ही
सः	—	वह अग्नि देव
निववृते	—	लौट गया
यत् एतत्	—	जो यह
यक्षं	—	यक्ष है
एतद्	—	इसको
विज्ञातुं	—	जानने के लिए
न	—	नहीं
अशकम्	—	समर्थ हो सका।

व्याख्या

यहां पर अग्नि देव के सामर्थ्य की परीक्षा की गई है और अग्नि के मिथ्या अभिमान को यक्ष ने चूर किया है। जब यक्ष ने कहा कि आप इतनी बड़ी सामर्थ्य रखते हैं तो यह एक छोटा-सा तृण है कष्ट करके इसे जलाकर तो दिखाओ। अग्नि तो चूंकि अपने अभिमान में डूबा हुआ था अतः उसने बड़े वेग एवं अपनी शक्ति से उसे जलाने का प्रयास किया, लेकिन वह उस दिव्य यक्ष द्वारा रखे गए तिनके को जला न सका। अपना सा मुंह लटकाए वापिस अपने साथी सभी देवों से आकर कहा कि मैं सफल न हो सका।

७. अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद्
यक्षमिति तथेति ॥

अन्वय एवं अर्थ

अथ	—	अग्निदेव की बारी के बाद
वायुं	—	वायु को
अब्रुवन्	—	(देवताओं) ने कहा, कि
वायो	—	हे वायु देव
एतद्	—	यह
विजानीहि	—	तुम पता लगाओ, कि
एतत्	—	यह
यक्षं	—	यक्ष
किं इति	—	कौन है, ऐसा
तथेति	—	बहुत अच्छा ।

व्याख्या

जैसे ही अग्नि देव निराश होकर सभी देवों के पास पहुंचा तब वायुदेव को कहा गया कि हे वायुदेव ! तुम ही पता करो कि वह दिव्य यक्ष है कौन? ऐसा सुनने पर उसने स्वीकार करते हुए कहा, 'जी अच्छा' ।

८. तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति ।
वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥

अन्वय एवं अर्थ

तद्	—	(वह वायु देवता) उस यक्ष के
अभ्यद्रवत्	—	सम्मुख पहुंचा, तो
तं	—	उस वायु को (यक्ष ने)
अभ्यवदत्	—	कहा
कः	—	आप कौन
असि	—	हो

वै	—	निश्चय से
अहं	—	मैं
वायु	—	वायु
अस्मि	—	हूं और
वै	—	निश्चय से
अहं	—	मैं
मातरिश्वा	—	मातरिश्वा (अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला) नाम से
अस्मि इति	—	प्रसिद्ध हूं।

व्याख्या

वायु देवता समस्त देवों से आदेश पाकर दिव्य यक्ष के पास पहुंचा और तब यक्ष ने उसके आते ही पूछा कि आपका शुभ परिचय? इस पर वायु देव पूर्ण गर्व के साथ कहने लगा कि मेरा नाम वायु है और मैं समस्त अंतरिक्ष में भ्रमण करता हूं। अतः मुझे मातरिश्वा नाम से अधिक प्रसिद्धि के साथ जाना जाता है।

६. तस्मिन् त्वयि किं वीर्यमिति ?

अपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥

अन्वय एवं अर्थ

तस्मिन् त्वयि	—	पूर्वोक्त गुण युक्त वायु तुझ में
किं	—	क्या
वीर्यं	—	सामर्थ्य है
इति	—	ऐसा बता
यत्	—	जो कुछ
इदं	—	यह है
पृथिव्यां	—	इस पृथ्वी पर
अपि	—	(यदि मैं चाहूं) तो
इदं	—	इस
सर्वं	—	सबको
आददीयं	—	ग्रहण कर लूं या उड़ा दूं।

व्याख्या

वायु की उसी के मुख से अति प्रशंसा सुनने के बाद यक्ष ने कहा कि आप में क्या शक्ति है ? तब वायु ने कहा, "इस संसार में जो कुछ भी है उसे मैं अपनी शक्ति से ग्रहण कर सकता हूँ तथा उड़ा सकता हूँ।"

१०. तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥

अन्वय एवं अर्थ

तस्मै	—	(यक्ष ने) उस वायु देवता के लिए
तृणं	—	एक तिनका
निदधौ	—	रख दिया (और कहा)
एतद्	—	इसको
आदत्स्व	—	उठा ले या उड़ा ले
सः	—	वह वायु देव
सर्वजवेन	—	पूर्ण वेग व शक्ति से
तत्	—	उस तिनके पर
उपप्रेयाय	—	झपटा, (परन्तु)
तत्	—	उसको
आदातुं	—	ग्रहण करने में
न	—	नहीं
शशाक	—	समर्थ हो सका
ततः एव	—	उसके बाद ही वह
निववृते	—	लौट गया, (और देवों को कहा)
यत्	—	जो
एतत्	—	यह
यक्षं इति	—	यक्ष है
एतत्	—	उसे
विज्ञातुं	—	जानने में
न अशकं	—	समर्थ नहीं हो सका।

व्याख्या

यक्ष ने उसकी गर्वोक्ति युक्त बातें सुनकर कहा कि मैं आपके सम्मुख यह एक सूखा तृण रख रहा हूं कष्ट करके इसे उड़ा दो। इतना सुनने पर वायु देव ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस तिनके को उड़ाने में लगा दी लेकिन उस तृण को वह टस से मस नहीं कर सका। अन्त में लज्जित होकर देवों के पास आकर कहा कि मैं अपनी सामर्थ्य से उसे नहीं जान सका कि वह यक्ष है कौन?

११. अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति?
तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात् तिरोदधे ॥

अन्वय एवं अर्थ

अथ	—	वायु की पारी के बाद
इन्द्र	—	इन्द्र को
अब्रुवन्	—	कहा गया कि
मघवन्	—	हे मघवा !
एतत्	—	इस यक्ष को
विजानीहि	—	भली-भांति आप जानें
एतत्	—	यह
यक्षं	—	यक्ष
किं इति	—	कौन है
तथेति	—	ठीक है, इन्द्र ने कहा
तत्	—	उसकी, (यक्ष की)
अभ्यद्रवत्	—	ओर दौड़ा
तस्मात्	—	उस इन्द्र से वह यक्ष
तिरोदधे	—	छिप गया, अथवा अन्तर्धान हो गया।

व्याख्या

अंत में इन्द्र की बारी आई चूंकि इन्द्र समस्त देवों के अधिपति कहे गए हैं, शक्ति में अद्भुत हैं अतः इन्द्र के अभिमान को दूर करने के लिए यक्ष

ने अपने को इन्द्र से छिपा लिया है जब इन्द्र यक्ष के समीप दौड़ते हैं। वैसे ही यक्ष छिप जाता है। इन्द्र हैरान हो जाते हैं कि आखिरकर यह शक्ति है कौन?

१२. स तस्मिन्नेवाकाशे रित्रयमाजगाम बहुशोभमानामुमां
हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥

अन्वय एवं अर्थ

सः	—	वह इन्द्र
तस्मिन्	—	उस
एव	—	ही
आकाशे	—	आकाश में
बहुशोभमानां	—	बहु शोभा युक्त
रित्रयं	—	स्त्री
हैमवतीं	—	हैमवती
उमां	—	उमा नाम की देवी
आजगाम	—	पास आ पहुंचे
तां	—	उस देवी को
ह उवाच	—	निश्चय कर बोले
एतद्	—	यह
यक्षं	—	यक्ष
किं इति	—	कौन था, कृपा करके बताइए।

व्याख्या

उक्त कथानक का वास्तविक कथ्य अब प्रारम्भ होता है। पहले मात्र भूमिका हेतु इतना जानना आवश्यक है चूंकि इन्द्र समस्त देवों के राजा हैं। इन्द्र को भी अभिमान हुआ। अन्त में इन्द्र उस दिव्य यक्ष को पहचानने के लिए जाते हैं जैसे ही इन्द्र उस दिव्य यक्ष के समीप पहुंचते हैं तो यक्ष छिप जाते हैं। उनके स्थान पर आकाश में ही एक अत्यन्त हिरण्यमयी उमा नामक स्त्री मिलती है उससे पूछते हैं कि हे देवि ! क्या तुम बता सकती हो कि वह यक्ष कौन है? इतना ही कथानक है।

परन्तु वस्तुतः इसका रहस्योद्घाटन है क्या ? यह जानना आवश्यक है। यहां पर इन्द्र नाम जीवात्मा का है और यक्ष नाम—ब्रह्म का है और

हैमवती बहु दिव्य सुख देने वाली उमा है ब्रह्म विद्या या परा विद्या। इन्द्र तब दुखी हो जाता है जब उसे ब्रह्म रूपी यक्ष नहीं मिलते, ऐसी स्थिति में आत्मिक सुख बरसाने वाली उमा रूपी परा या ब्रह्म विद्या सामने होती है वही सच्ची दृष्टि देने वाली होती है जो आगे के प्रकरण में स्पष्ट होता है।

इस तरह यह कथानक ब्रह्म विद्या पर ही आधारित है यह कोई ऐतिहासिक पहलू नहीं है।

चतुर्थः खण्डः

१. सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतत् विजये ।
महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

अन्वय एवं अर्थ

सा	—	वह उमा (ब्रह्मविद्या)
उवाच	—	बोली कि
ब्रह्मेति	—	ब्रह्म ही है
ब्रह्मणः	—	ब्रह्म की
वा	—	ही
एतद् विजये	—	इस विजय में
महीयध्वं इति	—	आप देवों ने अपनी महिमा को समझा लिया था,
ततः	—	इसके बाद
ह एव	—	ही
विदाञ्चकार	—	(इन्द्र ने) जाना कि
ब्रह्म इति	—	वह यक्ष ब्रह्म ही है।

व्याख्या

यहां स्पष्ट हुआ कि वह भगवती उमा जो ब्रह्मविद्या है, ने इन्द्र जीवात्मा को समझाया चूंकि ब्रह्मविद्या के द्वारा ही यह जीवात्मा यथार्थ स्वरूप को समझने में समर्थ होता है। इस संसार में यह जीवात्मा विभिन्न सम्बन्धों में फंसने, उलझने के कारण ब्रह्म को तो भूल जाता है या परमात्मा के स्मरण की औपचारिकता मात्र करता है और अपनी अल्पशक्ति को ही अपनी महिमा जानकर परब्रह्म प्रभु को भूल जाता है, अतः उसकी अल्पशक्ति तथा ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता की प्रेरणा उमा परा विद्या के द्वारा प्राप्त होती है। इस तरह इन्द्र-जीवात्मा को अन्तर्बोध हो जाता है।

२. तस्माद्वा ऐते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्
यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनत् नेदिष्टं परस्पर्शस्ते
ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

अन्वय एतं अर्थ

यत्	—	जिस कारण से
अग्निः वायुः इन्द्र	—	अग्नि, वायु और इन्द्र
ऐते देवाः	—	इन देवों ने
हि	—	निश्चय से
एनत्	—	इस यक्ष को
नेदिष्टं	—	अत्यन्त समीपस्थ होकर
परस्पर्शः	—	स्पर्श किया है या जाना है
हि	—	निश्चय से
एनत्	—	इस दिव्य यक्ष को
प्रथमः	—	सर्वप्रथम
ब्रह्म इति	—	ब्रह्म है, ऐसा
विदाञ्चकार	—	जाना है
तस्मात् वा	—	इस प्राथमिकता के कारण ये देव
अन्यान्	—	दूसरे
देवान्	—	देवों की अपेक्षा
अतितरां इव	—	मानो अति श्रेयस्कर हैं।

व्याख्या

यहां पर अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों देवों को अन्य समस्त देवों की अपेक्षा उत्कृष्टतर बताया गया है क्योंकि इन्हीं तीनों को परा विद्या ने भी ब्रह्म साक्षात्कार निमित्त अत्यन्त समीपस्थ कहा है। यदि अध्यात्म विज्ञान के सन्दर्भ में देखा जाए तो अग्नि और वायु में दोनों इन्द्र देव के दाएं बाएं अंग हैं। जैसा कि पहले ही व्याख्या में कहा गया है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है, उसे अग्नि तत्त्व और वायु तत्त्व की अत्यन्त आवश्यकता है। अग्नि तत्त्व प्रकाश का द्योतक है तो वायु तत्त्व गति एवं प्राण क्रिया का। इन दोनों देवों को यक्ष (ब्रह्मज्ञान) में इसी कारण से अत्यन्त उपयोगी माना है। इन्हीं के माध्यम से इन्द्र — जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

३. तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स होनन्नेदिष्टं
परं पर्शं स होनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

अन्वय एवं अर्थ

हि	—	क्योंकि
इन्द्रः	—	इन्द्र — जीवात्मा ने
एनत्	—	इस यक्ष—ब्रह्म को
नेदिष्टं	—	अत्यन्त समीप भाव से
पस्पर्श	—	ब्रह्म विद्या से जाना है
सः हि	-	तथा इसने ही
एनत्	-	इस (ब्रह्म का)
प्रथमः	—	सर्वप्रथम
विदाञ्चकार	—	साक्षात्कार किया है कि
ब्रह्मेति	—	यही ब्रह्म है
तस्मात् वा	—	इस कारण से (वह इन्द्र)
अन्यान्	—	दूसरे
देवान्	—	देवों की अपेक्षा
अतितरां इव	—	मानो श्रेष्ठतर है ।

व्याख्या

चूंकि अग्नि और वायु में वह सामर्थ्य नहीं है जो ब्रह्म को साक्षात्कार कर सकें। यह सामर्थ्य मात्र इन्द्र — जीवात्मा में ही है। अतः उसने ही उमा-ब्रह्मविद्या के बल पर ब्रह्म का स्पर्श किया अथवा यों कहें कि इसी जीवात्मा ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया तो इस कारण से निस्सन्देह वह अन्य देवों की तुलना में जहां श्रेयस्कर है वहीं वह सामर्थ्यवान् भी है। इससे जीवात्मा की श्रेष्ठता ही स्पष्ट होती है।

४. तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा
इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥

अन्वय एवं अर्थ

तस्य	—	उस यक्ष ब्रह्म का
एषः	—	यह

आदेशः	—	दृष्टान्त या उपदेश है
यत्	—	जो कि
विद्युत : आ	—	विद्युत की तरह
व्यद्युतत्	—	चमका
न्यमीमिषत्	—	आंख की झपकन सदृश प्रकट और तिरोहित हुआ
इति	—	इस प्रकार
अधिदैवतम्	—	आधिदैविक उपदेश है।

व्याख्या

इससे पूर्व जो भी वर्णन हुआ है यह तो स्पष्ट है कि वह एक मात्र दृष्टान्त या उपदेश था समझाने की दृष्टि से। दूसरा यह है कि वह इन्द्र अर्थात् संयमी योगाभ्यासी जब भी चित्त की समस्त वृत्तियों को नियन्त्रित कर ब्रह्म को देखता है तो उसके स्वरूप की स्थिति मानो ऐसी हो जाती है जैसे कि बिजली चमकी और तिरोहित हो गई। इससे वह योगी को शिक्षा या संकेत भी है कि उसे ब्रह्म साक्षात्कार में कोई शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं है और न ही निराश होने की।

५. अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोज्ञेन
चैतदुपरस्मरत्यभीक्षणं संकल्पः ॥

अन्तर्गत एवं अर्थ

अथ	—	अब
अध्यात्मं	—	आध्यात्मिक विषय में
यत्	—	जो
मनः	—	यह मन
एतत्	—	इस ब्रह्म के प्रति
गच्छति इव	—	जाता हुआ सा प्रतीत होता है
च	—	और
एतत्	—	ब्रह्म को
अनेन	—	इस मन के द्वारा
अभीक्षणं	—	निरन्तर
संकल्प	—	संकल्पपूर्वक
उपस्मरति	—	समीपता से स्मरण किया जाता है।

व्याख्या

इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जब जीवात्मा की आधिदैवत स्थिति सुदृढ़ हो जाती है, तब वह अध्यात्म मार्ग से सरलता से स्वयं प्रशस्त कर लेने में सक्षम हो जाता है। उस योगाभ्यासी का मन ऐसा लगता है कि मानो वह ब्रह्म के अत्यन्त निकट होता जा रहा है, चूंकि ब्रह्म को मन के द्वारा संकल्प व निष्ठापूर्वक अत्यन्त समीपता से स्मरण किया जाता है।

६. तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाच्छन्ति ।

अन्वय एवं अर्थ

तत्	—	वह ब्रह्म
ह	—	निश्चय से
तद्वनं	—	श्रेष्ठतम स्वरूप अथवा परम शान्तिमय स्वरूप के
नाम	—	नाम से प्रसिद्ध है वह
तद्वनं	—	श्रेष्ठतम या परमप्रिय है
इति	—	इस प्रकार से उसकी
उपासितव्यं	—	उपासना करनी योग्य है
सः यः	—	वह जो भी साधक
एतत्	—	उस ब्रह्म को
एवं	—	इस प्रकार
अभिवेद	—	सब प्रकार से जानता है
एनं	—	उस साधक को
ह	—	निस्सन्देह
सर्वाणि	—	सभी
भूतानि	—	प्राणी
संवाच्छन्ति	—	अच्छी तरह चाहते हैं।

व्याख्या

निस्सन्देह वह परमात्मा सभी को आश्रय प्रदाता एवं अत्यन्त प्रेम बरसाने वाला है। परन्तु मानव इस संसार में जड़ वस्तुओं से अतिशय प्यार

एवं लगाव कर बैठता है। फलतः प्रभु से दूर होता चला जाता है। अतः सच्चा साधक उसकी सभी प्रकार से एकनिष्ठ होकर उपासना करता है और उस अनन्त दिव्य स्वरूप का नित्य निरन्तर मनन चिन्तन करने में अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य समझता है तो उस साधक के लिए मानो समत्व दृष्टि प्राप्त हो जाती है। परिणामतः यहां वह सभी का मित्र व हितैषी होकर सभी के स्नेह सम्मान का पात्र बन जाता है यह उस प्रभु की प्रत्यक्ष देन होती है।

७. उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥

अन्वय एवं अर्थ

- | | | |
|---------|---|---|
| भो | — | हे पूज्य गुरुदेव ! |
| उपनिषदं | — | ब्रह्म सम्बन्धी रहस्यात्म विद्या का |
| ब्रूहि | — | उपदेश करें |
| इति | — | इस प्रकार (यहां पर शिष्य की प्रार्थना पर गुरुदेव कहते हैं कि) |
| ते | — | तुम्हें |
| उपनिषद् | — | ब्रह्म विद्या का |
| उक्ता | — | उपदेश कर दिया है |
| वाव | — | निश्चय से |
| ते | — | तुम्हें |
| उपनिषदं | — | ब्रह्म विद्या |
| अब्रूम | — | बतला चुके हैं |
| इति | — | इस प्रकार तुम समझो । |

व्याख्या

जो जिज्ञासा शिष्य ने सर्वप्रथम रखी थी उससे सम्बन्धित सभी जिज्ञासाओं का समाधान गुरुदेव ने रखते हुए कहा कि हे शिष्य अब तक जो रहस्यमयी ब्रह्मविद्या जिसे उपनिषद् कहते हैं उसका तुझे वर्णन कर चुका हूं निश्चय से तुम इसको समझो और अपने जीवन में धारण करो ।

८. तस्यै तपो दमः कर्मणि प्रतिष्ठा
वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥

अन्वय एवं अर्थ

तस्मै	—	उस रहस्यात्मक ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिए
तप	—	तपस्या
दमः	—	इन्द्रिय निग्रह
कर्म	—	वेदोक्त कर्तव्य पालन
इति	—	ये तीनों
प्रतिष्ठा	—	मुख्य साधन या आधार हैं
वेदाः	—	ऋग, यजु, साम, अथर्व ये सभी वेद
सर्वाङ्गानि,	—	छन्द और व्याकरण ये सभी वेद
शिक्षा, कल्प,		के अंग
निरुक्त, ज्योतिष		
सत्यं	—	और सत्य का
आयतनम्	—	विस्तार—ये सभी परब्रह्म प्राप्ति के कर्म हैं।

व्याख्या

जब गुरुदेव ने ब्रह्मविद्या का प्रवचन कर दिया तो शिष्य ने हृदयङ्गम किया। परन्तु किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसके साधनों की अपेक्षा होती है यहां भी ब्रह्मविद्या प्राप्ति के साधनों को भी बताना नहीं भूलते। तो कहा कि उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति निमित्त तीन साधनों की नितान्त उपयोगिता है (१) तप अर्थात् सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, शीत-उष्ण, जय-पराजय इत्यादि का सहन करना (२) दम-इन्द्रियों पर संयम (३) कर्म-वेदोक्त कर्म जिनसे श्रेष्ठतम विचार व कर्म किए जाने की यथार्थ प्रेरणा मिलती है। इसके साथ ही सत्य कर्म, सत्य विचार और सत्य जीवन का विस्तार वेद वेदाङ्गों के नित्य स्वाध्याय से प्राप्त होता है, करते रहना चाहिए।

६ यो वा एतामेवं वेद, अपहृत्य पाप्मानम् अनन्ते स्वर्ग
लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥

अन्वय एवं अर्थ

यः	—	जो पुरुष
एतां	—	इस ब्रह्म विद्या को
वा	—	निश्चय से
एवं	—	पूर्वोक्त साधन सहित
वेद	—	जान लेता है, वह
पाप्मानं	—	समस्त पापों को, वासनाओं को
अपहृत्य	—	नष्ट करके
अनन्ते	—	अनन्त विनाश रहित
ज्येमे	—	श्रेष्ठतम स्वर्ग लोके मुक्ति धाम में प्रतितिष्ठति
—	—	प्रतिष्ठित हो जाता है
प्रतितिष्ठति	—	चिरन्तन परम आनन्द में स्थित हो जाता है

व्याख्या

इस उपनिषद् के अन्त में उपसंहार हेतु कहा गया कि जो कोई साधक पुरुष इस उपनिषद् में कही गई ब्रह्म विद्या को अच्छी तरह जान लेता है और तदानुसार ही आचरण में ले आता है वह विषय वासनाओं, जन्म मरणादि के सुख दुख रूपी बन्धन से सर्वथा के लिए मुक्त होकर पारब्रह्म के परम शाश्वत आनन्द में सदा सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है।



योग की परिभाषाएं

योग शब्द को तीन धातुओं से निष्पन्न माना गया है — (१) युज-समाधौ, (२) युज-संयमने और (३) युजिर्-योगे। इनसे स्पष्ट होता है कि योग का अभिप्राय, संयम, मेल और समाधि है। साधना में संयम एवं आत्मा परमात्मा का समाधि में मिलन है योग कहलाता है। विभिन्न ग्रन्थों में एवं शस्त्रकारों ने योग की अपने-अपने शब्दों में व्याख्याएं एवं परिभाषाएं दी हैं जिनमें योग के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

१. वेदों में योग की परिभाषाएं — संसार के सर्वप्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में योग से सम्बन्धित "यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। सधीनां योगमिन्वति ॥ (ऋग्वेद १/१८/७) ऐसा मन्त्र मिलता है, जिसका अभिप्राय है कि विद्वान् लोग योग के बिना यज्ञ को भी सफल नहीं मानते। परिश्रम व साधना को ही योग कहा गया है। "इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरश्चकृषुः" (अथर्ववेद-६/६१/१) एवं "अष्टधा युक्तो वहति" (अथर्ववेद १३/३/१६) योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये" — (सामवेद - १/२/११) इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महर्षि पतञ्जलि ने जिस योग की अवधारणा एवं मूलतत्त्वों को प्रस्तुत किया था उनका मूल उत्स वेद ही है। उक्त प्रमाणों में आत्मा परमात्मा के संयोग, एवं योग के मूल तत्त्वों का साधना के साथ पालन करना ही योग बताया गया है।

२. उपनिषदों में योग की परिभाषाएं — वेद में प्राप्त योग के मूल तत्त्वों एवं व्याख्याओं को विस्तृत आयाम मिला उपनिषदों में। कठोपनिषद् में योग की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है :

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह,
 बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।
 तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्,
 अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो ॥

कठो० २/३/१०-११

अर्थात् जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर होकर निश्चल मन बुद्धि के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वह स्थिति परम गति वाली कही गई है। इन्द्रियों की स्थिर धारणा को योग कहा गया है। फलतः वह योग साधक अप्रमादी स्वभाव हो जाता है तथा उसमें परा विद्या की उत्पत्ति एवं अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है, यही योग की वास्तविक स्थिति है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् - २/१५ के

"यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्" अनुसार साधक द्वारा दीपक के समान प्रकाशमान आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व के साथ साक्षात्कार करना ही योग कहा है"।

"एकत्वं प्राण मनसोरिन्द्रियाणां तथैव च ।

सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते ॥"

मैत्रायणी उपनिषद् ६/२५ के अनुसार प्राण, मन एवं इन्द्रियों का एकत्व समस्त सांसारिक भावों का परित्याग को योग कहा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योग की मुख्य रूप से दो सारगर्भित परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं (१) योगः कर्मसु कौशलम्, अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है (२) समत्वं योग उच्यते अर्थात् सिद्धि असिद्धि इत्यादि द्वन्द्वों में समत्व बुद्धि भाव ही योग है। इन दोनों परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि कर्मों में अनासक्ति भाव रखना वस्तुतः इसलिए योग कहा जाएगा क्योंकि अनासक्ति भावयुक्त कर्मों को करने से परिभाषाओं में नहीं बंधता यही कर्मों में कौशल है। दूसरा अनासक्ति भाव त्याग कर सिद्धि असिद्धि सुख-दुख, जीवन-मरण, लाभ-हानि, यश-अपयश, जय-पराजय, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में भी सदा बुद्धि एवं विचारों की एकता बनाए रखना ही योग है। योग शास्त्र सिद्ध आचार्य

एवं प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने सभी परिभाषाओं को सार एवं संक्षेप में एक ही परिभाषा में समाहित करते हुए लिखा—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः — (योग सूत्र १/२) जिसके अभिप्राय में कहना उपयुक्त होगा कि — (चित्त — अन्तःकरण की वृत्तियों, संस्कारों, भावों, विचारों, इच्छाओं का दमन करना ही योग है।)



क्रिया योग

ब्रह्मसाक्षात्कार के सन्दर्भ में समस्त शास्त्रों एवं ऋषियों ने योग मार्ग को ही एक मात्र साधन बताया है। इसके साधन के रूप में कुछ मार्ग इस प्रकार हैं यथा (१) ज्ञान योग, (२) भक्ति योग (३) क्रिया योग इत्यादि ।

योग क्षेत्र में जो अधिकारी मध्यम श्रेणी है, उनकी चित्त वृत्ति संयम का उपाय क्रिया योग से प्रारम्भ होता है। ऐसे मध्यम श्रेणी के अधिकारियों की योग साधना निश्चित रूप में क्रिया योग से इसलिए प्रारम्भ होती है क्योंकि उनका आधार अभी बनना है। यह क्रिया योग ही उन्हें भक्ति योग या ज्ञान योग की ओर ले जाने में मौलिक भूमिका तैयार करता है। उत्तममार्गी साधकों के जीवन में स्थिर प्रज्ञ स्थिति का स्वरूप होता है। क्रिया योग उस आधार को योजनापूर्वक तैयार करता है इसी क्रिया योग में समस्त चित्त की वृत्तियों को संयमित करने में समर्थ होता है।

क्रिया योग के साधन : महर्षि पतञ्जलि ने "तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः" योग दर्शन — २/१, इस मूल सूत्र के माध्यम से स्पष्ट किया है कि (१) तप (२) स्वाध्याय (३) ईश्वर प्रणिधान — ये तीन क्रिया योग के अंग हैं अर्थात् इन तीनों साधनों की समष्टि का नाम ही 'क्रिया योग' है।

१. तप : का अभिप्राय सर्दी-गर्मी, धूप-छांव, हानि-लाभ, यश-अपयश, जीवन-मरण, सुख-दुख, जय-पराजय, भूख-प्यास, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना है। इन द्वन्द्वों के आने पर भी बिना घबराए और विक्षेप के स्वस्थ शरीर एवं निर्मल विशुद्ध अन्तःकरण के साथ योग मार्ग में सदा प्रवृत्त रहे, तो समझना चाहिए वह तपस्वी है। क्योंकि शरीर एवं मान द्वारा असहिष्णुता इन्द्रियों में विकार और चित्त

में अस्थिरता हो तो वह कदापि योग मार्ग पर नहीं चल सकता। समस्त द्वन्द्वों में अपने को स्थिर एवं समरस रखने से वह वासनाओं और क्लेशों से सदा दूर रहने के कारण योग साधना की ऊंचाइयों को पा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने "कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" योगदर्शन- २/४३ का उल्लेख करके स्पष्ट कर दिया है कि तप के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि, अपवित्रता का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। तप का आचरण शरीर, मन, वाणी — तीनों से ठीक ठीक होना चाहिए और तप सात्विक ही होना श्रेयस्कर है। योग साधना में इसी तप की उपयोगिता है।

२. स्वाध्याय — योग साधना में स्वाध्याय मार्गदर्शन का कार्य करता है। स्वाध्याय के दो अभिप्राय हैं (१) स्व- स्वस्य आत्मनः, अध्यायः— अध्ययनम् अर्थात् समस्त सांसारिक विषय वासनाओं, पदार्थों, सम्बन्धों एवं कामनाओं की छोड़कर अपनी आत्मा का नित्यशः अध्ययन करना। (२) "स्वाध्यायः — सु- सद अध्यायः वेद ब्राह्मण-उपनिषदादि धर्म ग्रन्थानां अध्ययनम्" — अर्थात् वेद उपनिषद् दर्शन गीता आदि धर्म ग्रन्थों का नित्यशः अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय के फल को महर्षि पतञ्जलि ने "स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः" योग दर्शन २/४४ में उल्लेख किया है कि स्वाध्याय से अभिलषित देवताओं या दिव्य आत्माओं का साक्षात्कार होता है। श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक स्वाध्याय से देव, गन्धर्व ऋषियों के दर्शन होते हैं, उनकी दिव्य प्रेरणाएं अनायास ही योगी को योग साधना हेतु प्रेरित करती हैं।

३. ईश्वर प्रणिधान — का अभिप्राय अनन्य भक्ति भाव से ईश्वर का आराधन, चिन्तन, मनन, स्तुति तथा ईश्वर की विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सभी बाह्य और अन्तःकरणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् बाह्य व आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण करना है। साधक द्वारा प्रभु में समर्पण कर जो भी कार्य किया जाता है, उसमें स्वार्थ, पक्षपात व लोभ आदि की भावना उभरने नहीं पाती इससे मन, चित्त की निर्मलता बनी रहती है यही साधक की आधारस्तरीय साधना है। योगदर्शन २/४५ में

महर्षि पतञ्जलि ने "समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्" ऐसा उल्लेख कर बताया है कि ईश्वर आराधना में समाधि की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार क्रिया योग नामक यह बहिरंग साधन शरीर, वाणी व मन से नित्यशः किए जाने वाला साधन है जो लक्ष्य तक निश्चित रूपेण पहुँचाता है।



अष्टाङ्ग योग

महर्षि पतञ्जलि ने योग साधना के आठ अंगों का वर्णन किया है। मोक्ष के अभिलाषी साधकों के लिए सीढ़ी दर सीढ़ी पर चढ़ना बताया है और योग साधना में योग की सीढ़ी योग के आठ अंग ही हैं। इसी को अष्टांग योग कहा जाता है। आठ अंग ये हैं —

- | | |
|--------------|---------------|
| १. यम | ५. प्रत्याहार |
| २. नियम | ६. धारणा |
| ३. आसन | ७. ध्यान |
| ४. प्राणायाम | ८. समाधि |

१. यम

‘यम’ योग शास्त्र का पारिभाषिक पद है। यम का अर्थ निवृत्ति है “यमन्ति निवर्त्तयन्तीति यमाः” अर्थात् अवांछनीय कार्यों, प्रवृत्तियों से निवृत्ति या हटाव। अभिप्राय है कि अपने आपको संयत करना, नियन्त्रित करना या आत्म-नियन्त्रण में पूर्ण निष्ठा होना। योग क्षेत्र में यह एक बुनियादी सिद्धान्त है, समस्त योग की साधना यम पर टिकी हुई है।

योग दर्शनकार ने निवृत्ति मूलक यम के ५ भाग माने हैं—
“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः” अर्थात्

- | | |
|-----------|---------------|
| १. अहिंसा | ४. ब्रह्मचर्य |
| २. सत्या | ५. अपरिग्रह |
| ३. अस्तेय | |

अहिंसा — मन, वाणी या कर्म से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना। किसी के प्रति द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या, जलन की भावना भी चित्त में नहीं आनी चाहिए। चित्त में इन प्रवृत्तियों का आना ही हिंसा को जन्म देना है।

सत्य — मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य का आचरण करना, तथा इन तीनों में एकरूपता यह सत्य प्रवृत्ति है। सार्थकता, ऋजुता सत्य की परिधि के अन्तर्गत ही गण्य हैं। सत्य भी प्रिय हो और अपनी व दूसरे की आत्मा के अनुकूल होना चाहिए।

अस्तेय — स्तेय नाम चोरी का है। चौर्य भावों, प्रवृत्तियों से सर्वथा दूर रहने को अस्तेय कहा जाता है। जिस वस्तु पर किसी का अधिकार है उसे असंवैधानिक रूप से हस्तगत न करना और न ही करने की इच्छा करे "परद्रव्येषु लोष्ठवत्" अर्थात् दूसरे के द्रव्य या पदार्थों को मिट्टी के ढेले के समान समझना चाहिए यही भाव अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य — काम वासनाओं से बचते हुए पूर्ण निष्ठा के साथ वीर्य की सदा रक्षा करना, जीतेन्द्रिय रहना, इन्द्रियगत विषयों में आसक्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्य है। यह रास्ता तलवार की धार पर चलने की भांति है। वीर्य रक्षा के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों को भी संयमित करना ब्रह्मचर्य ही कहा है।

अपरिग्रह — आवश्यकता से अधिक द्रव्यों, पदार्थों को ग्रहण न करना अपरिग्रह है। शरीर की व्यथा चमक दमक व आराम तथा मनु के अनुकूल संसार की बहुत सारी चीजों का संग्रह यह परिग्रह कहलाता है। चूंकि सभी चीजें नश्वर हैं देर सवेर टूटती, फूटती, छूटती या चुरती हैं फलतः दुख, शोक, विषाद और क्रोध उत्पन्न होता है। परिणाम लक्ष्य से भटकना, अतः योग साधन के लिए आवश्यकता से अधिक संग्रह को निरर्थक व दुःख का हेतु कहा है इसलिए उसे 'अपरिग्रही' होना चाहिए।

२. नियम

योग का दूसरा अंग नियम है "नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शुभ कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, उन व्रतों को नियम कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने इन नियमों को पांच प्रकार का कहा है —

- | | |
|-------------------|--------------|
| १. शौच | २. सन्तोष |
| ३. तप | ४. स्वाध्याय |
| ५. ईश्वर प्रणिधान | |

शौच — शब्द का अभिप्राय शुद्धि या पवित्रता से है। इसके दो भेद हैं — (१) बाह्य शुद्धि (२) आभ्यन्तर शुद्धि। जल आदि से शरीर, वस्त्र, स्थान की शुद्धि रखना तथा सात्विक आदि से शरीर को पवित्र रखना बाह्य शुद्धि है। मन, चित्त के दोषों यथा-ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, राग आदि से सर्वथा दूर रहना आभ्यन्तर शुद्धि है।

सन्तोष — अपने पास जो है उसी में सन्तुष्ट रहना। इसका अभिप्राय निष्क्रियता नहीं है अपितु क्रियाशील बने रहते हुए अपने वैभव में ही अधिकार एवं सन्तुष्टि की भावना समझनी चाहिए। अर्थात् लोभ प्रवृत्ति उभरनी नहीं चाहिए।

तप — का अभिप्राय शीत-उष्ण, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख को सहन करते हुए हर समय समरसता बने रहना ही तप कहलाता है। कितने भी कष्ट आए उन्हें सहन करना ही तप है।

स्वाध्याय — अपनी आत्मा का अध्ययन करना एवं वेदादि सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। साधक का समय व्यर्थ में कहीं नष्ट न हो इसलिए उसके जीवन के नियमों में एक आवश्यक नियम स्वाध्याय भी है।

ईश्वर प्रणिधान — सर्वोपरि सत्ता व शक्ति परमात्मा की व्यवस्था में अपने को समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है, इससे भगवान के प्रति भक्ति का उद्रेक जागृत होता है।

३. आसन

योग का तृतीय अंग आसन है "आस्यतेऽनेनेति आसनम्"। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सके उसे आसन कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने "स्थिर सुखमासनम्"।

लिखा है, जिसका अभिप्राय होता है कि योग साधना के निमित्त लगाए गए आसन में स्थायित्व एवं सुखपूर्वक बैठने की अनुभूति रहनी चाहिए। पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, दण्डासन, स्वस्तिकासन इत्यादि आसन हैं। यह आवश्यक नहीं है कि साधक सभी आसनों को सिद्ध कर ले। सुखपूर्वक अधिकाधिक देर बैठ सके वही आसन की सिद्धि है। इस तरह स्थिर आसन होने से वह ध्यान और समाधि में लीन रह सकता है।

४. प्राणायाम

चतुर्थ अंग प्राणायाम है। महर्षि पतञ्जलि ने "तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोगति विच्छेदः प्राणायामः" इस पंक्ति में स्पष्ट किया कि आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास में गति का रोकना अथवा अन्तर डालना ही प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के मुख्यतः तीन भेद हैं — (१) रेचक या बाह्यवृत्ति प्राणायाम (२) पूरक या आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम (३) कुम्भक या स्तम्भवृत्ति प्राणायाम।

जिसमें वायु का बाहर की ओर निकालना हो, उसे रेचक प्राणायाम कहा जाता है। जहां वायु अन्दर को भरी जाए उसे पूरक प्राणायाम कहा जाता है और जहां वायु का अन्दर या बाहर अभाव हो तथा श्वास वहीं रोक दी जाए उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। योग विद्या में प्राणायाम के अनेक सूक्ष्म भेद भी हैं जो निरन्तर अभ्यास का विषय है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास या अनुष्ठान से बुद्धि पर पड़ा हुआ अन्धकार या आत्मप्रकाश पर पड़ा हुआ परदा क्षीण हो जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से मलों के दूर हो जाने पर निर्दोष शुद्ध चित्त वाला वह योगी या साधक हो जाता है।

५. प्रत्याहार

"इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहियन्ते विमुखी क्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाना ही प्रत्याहार कहलाता है। चूंकि इन्द्रियां बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं। साधक अपनी साधना एवं संकल्प द्वारा

जब अपनी इन्द्रियों को आभ्यन्तर वृत्ति वाला बना देता है तो उस स्थिति को प्रत्याहार कहा जाता है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर बाह्य विषयनुगामिनी होने पर भी बाह्य विषयों में समर्थ नहीं हो पाती। इस तरह प्रत्याहार से योग साधना में पूर्ण सहायता मिलती है।

६. धारणा

देश विशेष में चित्त के स्थिरीकरण को धारणा कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने " देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" कहा जिसका अभिप्राय होता है देश अर्थात् देह या शरीर के किसी अंग विशेष अथवा किसी लक्ष्य विशेष में चित्त को बांध देना या लगा देना धारणा कहलाती है। प्राणायाम और प्रत्याहार की साधना के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता ऐसी हो जाए, जिसे साधक जहां चाहे लगा सकता है। चित्त को लगाने के लिए योगियों ने बताया कि उसे देह के अन्दर नाभिचक्र, हृदय, कमल, मूर्धा ब्रह्मरन्ध्र, आज्ञाचक्र आदि किसी भी देश स्थान विशेष में अधिकाधिक समय तक लगाए रखना ही धारणा है।

७. ध्यान

धारणा की अधिकाधिक सिद्धि हो जाए या सीमा बढ़ती चली जाए, उसे ध्यान का रूप माना जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा भी है "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" अर्थात् जिस अंग या स्थान विशेष में चित्त को बांधा या धारण किया है, उस स्थान में प्रत्यय अर्थात् ज्ञानवृत्ति की एकतानता या एकाग्रता बनी रहना ही ध्यान कहलाता है। जितने अधिक समय तक यह ध्यान बना रह सके उतनी ही अधिक श्रेष्ठता एवं सफलता है। सामान्य भाषा में "ध्यानं हि निर्विषयं मनः।" मन या चित्त का निर्विषय हो जाना ही ध्यान कहा है लेकिन लगे हुए ध्यान में चित्त का चञ्चल होना या ध्यान का हट जाना अच्छा नहीं है उससे ध्यान का तारतम्य टूट जाता है।

८. समाधि

जब ध्यान लक्ष्य मात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से शून्य हो जाता है तब उसे समाधि कहते हैं। चित्त की एकाग्रता की

इस सर्वोत्कृष्ट अवस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येय की अनुभूति न होना समाधि का सौन्दर्य है। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के विषय में बहुत सुन्दर लिखा - "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः", अभिप्राय है कि वह ध्यान, जिसमें केवल अर्थ प्रकाशित होता है और साधक स्वरूप से शून्य रहता है वह योग का अन्तिम और आठवां अंग समाधि कहलाता है। अपनी उत्कृष्ट विशेष स्थिति वाला ध्यान ही 'समाधि' बन जाता है। समाधि अवस्था में ध्येय मात्र आत्मतत्त्व ही रहता है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक तत्त्व नहीं। इसका सीधा सा कारण है कि समाधि अवस्था में ध्याता और ध्येय का भेद ही समाप्त हो जाता है। यह समाधि सिद्धि ही मोक्ष प्रदात्री होती है।



सोलह संस्कार

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' उपसर्ग पूर्वक कृञ धातु से 'घञ' प्रत्यय करके की गई है, इसका मुख्य अर्थ होता है किसी व्यक्ति या वस्तु को अच्छे संस्कार वाला बनाना अथवा सुसंस्कृत बनाना है। संस्कारों के करने से शारीरिक और मानसिक दुर्गुणों का नाश और सदगुणों का प्रकाश होता है "संस्कारो गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा" से स्पष्ट संकेत है कि संस्कार से गुणों का आधान और दुर्गुणों का नाश होता है। "संस्करणं गुणान्तराधानं संस्कारः" अर्थात् अन्य अच्छे गुणों के आधान को संस्कार कहते हैं। संस्कारों से मानव की सर्वांगीण उन्नति होने के साथ-साथ पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति की सामर्थ्य प्राप्त होती है। संस्कारों का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है।

शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक विकास हेतु वैदिक संस्कृति में निश्चित समय पर धार्मिक अनुष्ठान सहित संस्कारों का विधान आवश्यक बताया है। मानव जीवन में सोलह संस्कारों का कर्तव्य विधान है। यथा (१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकर्म (९) कर्णवेध (१०) उपनयन (११) वेदारम्भ (१२) समावर्तन (१३) विवाह (१४) वानप्रस्थ (१५) संन्यास (१६) अन्त्येष्टि कर्म ।

१. गर्भाधान संस्कार

जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में गर्भ का आधान करे उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में लिखा है कि जो - "गर्भस्याधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्नेन वा

कर्मणा तद् गर्भाधानं" गर्भ का धारण अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिस क्रिया से होता है, उसे ही गर्भाधान कहा गया है। गर्भाधान हेतु स्त्री पुरुष का परिपक्व आयु का होना अनिवार्य है। जब यथेच्छ सन्तान की आवश्यकता हो तो स्त्री पुरुष दोनों प्रीतिपूर्वक अपने घर विद्वान् आचार्य द्वारा यज्ञादि अनुष्ठान कराकर आशीर्वाद लेने के पश्चात् ऋतुकाल में उपयुक्त समय एवं वातावरण चुनें तथा गर्भस्थापना करें। भारतीय चिन्तन में चूंकि शिक्षा गर्भाधान से प्रारम्भ होती है। उत्तम सन्तान व सभ्य नागरिक बनाने हेतु यह आवश्यक है कि शास्त्रोक्त रीति से गर्भाधान संस्कार करे। वस्तुतः इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य योग्य सन्तति प्राप्त करना है, इसी कारण इसे सामाजिक एवं धार्मिक कर्म के रूप में समझा जाता है।

२. पुंसवन

दूसरा संस्कार पुंसवन है। इसका गर्भस्थिति के निश्चय हो जाने के पश्चात् दूसरे या तीसरे महीने में करने का विधान है। चतुर्थ मास में गर्भ हृदययुक्त होता है और उस समय गर्भस्पन्दन उत्पन्न हो जाता है इसलिए इस पुंसवन संस्कार को स्पन्दन (उछलने या हिलने डुलने) से पूर्व किया जाता है। अतः इसे पुंसवन कहते हैं। कई आचार्यों का मत है कि — "पुमान्प्रसूयते येन तत् पुसंवन् मीरितम्" अर्थात् — पु-पुरुष की सवन — उत्पत्ति जिस कर्म से हो उसे पुंसवन कहते हैं। इस संस्कार से बालक पुष्ट अविकलांग और उत्तम भावयुक्त उत्पन्न होता है। दूसरा यह भी है कि इस मास में गर्भ गिरने की सम्भावना होती है अतः गर्भिणी को सान्त्वना देने के निमित्त और उसके हृदय में शुद्ध संस्कार कराने के उद्देश्य से हुए संस्कार को सम्पन्न कराया जाता है।

३. स्त्रीमन्तीन्जयन

संस्कारों की श्रृंखला में यह तीसरा संस्कार है। यह गर्भ के चतुर्थ से लेकर आठवें माह के समय में कभी भी सम्पन्न किया जा सकता है। विशेषकर छठे या आठवें महीने में करना चाहिए क्योंकि उक्त मासों में गर्भिणी को सान्त्वना, उल्लास, प्रसन्नता एवं उत्तम शिक्षा की

आवश्यकता होती है। इस संस्कार का नाम सीमन्तोन्नयन इसलिए है कि इस संस्कार की विधि में पत्नी के हृदय में सान्त्वना उत्पन्न करने के लिए पति कंधी से पत्नी के सीमन्त अर्थात् केशों को उन्नयन कर उसे पूर्ण सहयोग करें। केशों में केशवीथी — मांग निकालने के कारण इसे सीमन्तोन्नयन नाम दिया है वस्तुतः यह सान्त्वना हेतु संस्कार है। इस अवधि में स्त्री के स्वास्थ्य एवं उसकी सदइच्छाओं का पूर्ण ध्यान रखना होता है। मैथुन, अभक्ष्य पदार्थ सेवन, तीर्थ यात्रा तथा अधिक श्रम वर्जित है।

४. जातकर्म संस्कार

यह चतुर्थ संस्कार बालक की उत्पत्ति के समय किया जाता है। प्रसवकाल में जल से गर्भिणी का मार्जन करने का विधान इस संस्कार में है। बालक की उत्पत्ति के पश्चात् सोने की शलाका या अंगूठी से घी और शहद चटाने और दश दिन तक सरसों से यज्ञ में आहुति देने का वर्णन है। बच्चे को शहद और घी चटाना उसको आयुष्य एवं बुद्धि में वृद्धि करना है। उत्पन्न करने वाली स्त्री का जल को छींटे देने से उसकी प्रसव पीड़ा न्यून होती है, मन में शान्ति आती है तथा स्त्री मूर्छित नहीं होती। यज्ञ में सरसों की आहुति देने से विषैले कीटाणुओं का नाश होता है इससे प्रसूता स्त्री और नवजात बच्चे को किसी भी प्रकार के संक्रामक रोग तथा अन्य बीमारी नहीं होने पाती।

५. नामकरण

पांचवा संस्कार नामकरण अन्य संस्कारों की भांति अत्यन्त महत्व का है। किसी द्रव्य या पदार्थ की संज्ञा या नाम अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना जगत् में व्यवहार कठिन है। यह संस्कार बालक के जन्म से ११वें, १०१वें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में, जिस दिन जन्म दिन हो, उस दिन नामकरण संस्कार करें। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नाम सार्थक और सरलता से उच्चार्य हो, रखना चाहिए। चूंकि नाम का बालक के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

६. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण का अर्थ है निकलना। निष्क्रमण का तात्पर्य है कि जब बालक घर से पहली बार बाहर शुद्ध पवित्र स्थान पर जाए उस दिन यज्ञादि अनुष्ठान कर प्रीतिपूर्वक उसे वहां ले जाएं इसी संस्कार का अभिप्राय निष्क्रमण होता है। बालक के जन्म से चौथे महीने या पांचवें महीने बाहर घुमाया जाता है ताकि वह बाहर के वायुमंडल के अनुरूप अपने को ढालने के लिए सदा तत्पर है और शुद्ध वायु का सेवन कर सदा स्वस्थ रहे।

७. अन्नप्राशन संस्कार

बालक के जन्म के छठे महीने में सात्विक सुपाच्य अन्न को प्रथम बार खिलाने के प्रकरण को अन्नप्राशन कहा जाता है। अब तक माता के दुग्ध पर आश्रित बालक शरीरवृद्धि हेतु उसे अन्न की आवश्यकता होती है ताकि मां के दुग्ध की कमी को भी पूरा कर सके और शरीर वृद्धि भी कर सके। प्रारम्भ में तो शिशु को अन्न का तरल और सात्विक सुपाच्य भोजन देना ही श्रेयस्कर है।

८. चूड़ाकर्म संस्कार

इस संस्कार के अनेक पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार विभिन्न प्रान्तों में पाया जाता है यथा — मुण्डन, चौल कर्म, चूड़ाकरण, केश छेदन, केशवपन, क्षौर आदि। इस संस्कार के अन्तर्गत बालक का पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन संस्कार का विधान किया गया है। तीसरे वर्ष में तो अवश्य ही करा देना चाहिए। बच्चे के दांत निकलते समय नेत्रादि रोग की सम्भावना रहती है। क्षौर कराने से शिर में ठण्डक होती है, जिसका अच्छा प्रभाव बालक के शरीर और नेत्र पर विशेष रूप से पड़ता है। दूसरा यह है कि गर्भ के बालों से मस्तिष्क में उष्णता होती है, उनके कट जाने से निश्चित रूप से मस्तिष्क को ताजगी मिलती है।

९. कर्णवेध संस्कार

यह संस्कार बालक के जन्म से तीसरे और पांचवें वर्ष में उचित बताया है। कर्णवेध का अभिप्राय होता है कानों को बेधना। यह

आभूषणादि धारण करने के लिए तथा अण्डकोशादि वृद्धि का रोगापहारक माना गया है। यज्ञादि की विधि करने के उपरान्त यह संस्कार किया जाता है।

१०. उपनयन संस्कार

यह दशवां संस्कार है। इसका नाम उपनयन, यज्ञसूत्र, यज्ञोपवीत, उपवीत एवं व्रतसूत्र इत्यादि भी है। उपनयन का अभिप्राय गुरु या विद्या के सान्निध्य का अधिकार दिलाने वाला है। यह संस्कार ब्राह्मण बालक के आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक के ग्यारवें, वैश्य बालक के बारहवें तथा उत्थान इच्छुक शूद्रादि बालक के सोलहवें वर्ष में करा देना उचित है। कुछ आचार्यों का मत है कि १६वें वर्ष तक सभी का हो जाना चाहिए। यह संस्कार अत्यन्त पवित्रतम संस्कार इस अर्थ में माना गया है क्योंकि इस संस्कार के उपरान्त उसकी द्विज संज्ञा कहलाती है वह इसलिए कि इस संस्कार के पश्चात् वह विद्याभ्यास में रहने, ब्रह्मचर्य का जीवन पालन करने का कठोर व्रत लेता है। इस संस्कार में व्रतसूत्र अर्थात् तीन धागे का यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। इसमें तीन धागे तीन ऋणों के प्रतीक हैं— पितृऋण अर्थात् माता पिता का ऋण, दूसरा, ऋषि ऋण — विद्या दान करने वाले आचार्यों का ऋण और तीसरा देव ऋण — देवों तथा ईश्वर का ऋण। ये तीनों ऋण प्रत्येक मनुष्य के ऊपर होते हैं उन्हें उतारने का सूचक ही यह यज्ञोपवीत है। वैदिक परम्परा में स्त्री पुरुष दोनों का इस संस्कार में समान अधिकार है।

११. वेदारम्भ संस्कार

उपनयन संस्कार के उपरान्त बालक को वेदादि शास्त्रों के अध्ययन कराने का इसमें तात्पर्य है। यज्ञोपवीत का फल वेदारम्भ ही है। यह संस्कार उपनयन के उपरान्त तत्काल अथवा उसके एक वर्ष के भीतर ही करा देना श्रेयष्कर है। इस संस्कार के अन्तर्गत आचार्य ब्रह्मचारी को पृथिवी और द्यौलोक अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड की सभी विद्याओं का बोध कराता है। महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में लिखा

है कि गायत्री मंत्र से लेकर सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिए नियम धारण करना ही वेदारम्भ है।

१२. समावर्तन संस्कार

संस्कारों की संख्या में यह बारहवां संस्कार है। विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करने के अनन्तर गुरुकुल या आचार्य कुल से पितृकुल या गृहस्थ में फिर से आने से इस संस्कार का नाम समावर्तन है। महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि — समावर्तन उस संस्कार को कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्य व्रत सांगोपांग वेद विद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त हो के विवाह विधान पूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ के घर की ओर आना। यह संस्कार का मुख्य अभिप्राय है विद्याध्ययन की समाप्ति और गृहस्थाश्रम में प्रवेश। इसे ही दीक्षान्त संस्कार भी कहते हैं।

१३. विवाह संस्कार

आजकल यह संस्कार अत्यन्त महत्वशाली है। यह एक ऐसा स्वाभाविक एवं ईश्वरीय नियम है, जिसके बिना संसार का व्यवहार चलना कठिन है। विवाह के लिए 'पाणिग्रहण' इस शब्द का भी समान रूप से ग्रहण होता है। संस्कार के समय यह एक मुख्य विधि है, पाणि — हाथ, ग्रहण — ग्रहण करना अर्थात् उस समय वर द्वारा वधू का हाथ ग्रहण कर इस विधि द्वारा कुछ प्रतिज्ञाएं होती हैं जिसमें वर और वधू के आजीवन वैवाहिक सम्बन्ध की एकता की भूमिका सदा बनी रहे। इसे दो आत्माओं के पवित्र मिलन का संस्कार भी कहते हैं यहीं से प्रारम्भ होता है सांसारिक जीवन का प्रबन्ध। वैदिक संस्कृति में पति-पत्नी द्वारा मिलकर चलते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति की ओर बढ़ना होता है। विवाह को जहां सामाजिक बन्धन माना है वहीं इसे आध्यात्मिक बन्धन भी कहा है।

विवाह संस्कार के मुख्य अंग इस प्रकार हैं — (१) विवाह योग्य आयु का होना (२) दोनों का गुण कर्म स्वभाव के अनुरूप परस्पर चयन या वरण (३) वर स्वागत (४) गौदान कन्यादान (५) यज्ञ (६) पाणिग्रहण

(७) लाजाहोम (८) जयाहोम (९) अभ्यातन होम (१०) राष्ट्रभृत होम (११) शिलारोहण (१२) ग्रन्थि बन्धन (१३) सप्तपदी (१४) सूर्यावलोकन (१५) ध्रुव दर्शन (१६) अरुन्धती दर्शन (१७) आशीर्वाद (१८) चतुर्थी कर्म।

१४. वानप्रस्थ संस्कार

वानप्रस्थ वह है जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति प्राप्त कर पुत्र या पुत्री की सन्तान हो जाए अथवा ५० से ६० वर्ष की आयु में गृहस्थ छोड़कर संस्कारपूर्वक वनी हो जाए। इसे जीवन का तृतीय काल अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम कहा जाता है। शास्त्रकारों ने इस आश्रम के लिए 'मुनि' और 'वनी' — (जंगल में रहने वाला) शब्द का भी प्रयोग किया है। इस आश्रम वाले व्यक्ति के लिए अपनी पत्नी को अपनी सन्तान के पास छोड़ने अथवा साथ ले चलने का भी सुझाव दिया गया है। वानप्रस्थी का मुख्य ध्येय अपनी योग्यता, अनुभव, कृतित्व, व्यक्तित्व से समाज एवं राष्ट्र की यथासम्भव सेवा करना है। व्रतपूर्वक सादा संयमी जीवन बिताता हुआ यज्ञ, स्वाध्याय, अध्ययनादि आवश्यक सेवाओं से विमुख न होवे। मुण्डकोपनिषद् में वानप्रस्थ का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है "जो शान्त स्वभाव विद्वान् लोग वन में तपः धर्मानुष्ठान और श्रद्धापूर्वक भिक्षाचरण करते हुए जंगल में बसते हैं, वहां निर्मल होकर पूर्ण पुरुष को प्राप्त होके आनन्दित होते हैं। वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम संन्यास आश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है।

१५. संन्यास संस्कार

वैदिक संस्कृति एवं समाज में मानव जीवन का चतुर्थ और अन्तिम पड़ाव संन्यास माना गया है। इसकी अवधि ७५—१०० वर्ष की मानी है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में संन्यास आश्रम में जाने के निम्न निर्देश दिए हैं :—(६) वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों को भोगकर संन्यास ग्रहण करे।

२) वैराग्य अर्थात् बुरे कार्यों से चित्त हटाकर सत्य मार्ग में लगाना।
३) पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का उपकार करना चाहे तो वह सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ले सकता है। अन्यथा दुष्कर है।

जो पुरुष संन्यास की पात्रता, योग्यता एवं कर्तव्य कार्यों को देखते हुए तथा पालन करने की इच्छा वाला संन्यास लेना चाहे तो किसी योग्य तपस्वी संन्यासी से संन्यास संस्कार की दीक्षा लेवे उस समय संन्यास के हेतु किए जाने वाले पूर्ण नियमों एवं व्रतों को पूर्णतः पालन एवं सम्पन्न कर यज्ञवेदी पर आकर यज्ञादि विधियां कर प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा — इन तीनों इच्छाओं को अग्नि के समक्ष त्यागता हूं। इस प्रकार संसार की समस्त इच्छाओं, वासनाओं, भावनाओं से हमेशा—हमेशा के लिए ऊपर उठकर आत्मोन्नति एवं निस्पृह होकर संसार का उपकार करने की दृढ़ इच्छा व्यक्त करता है और भगवा वस्त्र धारण करना उसके ज्ञान एवं ब्रह्माग्नि के प्रतीक बन जाते हैं।

१६. अन्त्येष्टि संस्कार

संस्कार श्रृंखला का सोलहवां एवं अन्तिम संस्कार है। अन्त में होने वाले इष्टि कर्म को 'अन्त्येष्टि' कहा जाता है। यह मृत शरीर के अन्त का संस्कार है जिसके आगे उस शरीर के लिए अन्य कुछ भी कर्तव्य संस्कार नहीं होते। जब मनुष्य का जीवात्मा उसके शरीर से निकल जाता है तब उसके शरीर की 'शव' संज्ञा हो जाती है। शव के दाहकर्म निमित्त शवप्रमाण की वेदी बनाकर काष्ठ, चन्दन आदि सुगन्धि युक्त बड़ी बड़ी समिधाओं का चयन कर उसमें शरीर को रख कर अन्त्येष्टि कर्म से मंत्रों का उच्चारण कर सुगन्धित रोगनाशक सामग्री की आहुतियों के साथ अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। संसार की बहुत सी जातियों एवं मतों में शव को गाड़ने, जल में प्रवाह करने एवं जंगल में फेंकने की प्रथा प्रचलित है। परन्तु वैदिक संस्कृति एवं समाज में शव को अग्नि को समर्पित करना ही श्रेयस्कर बताया है। यजुर्वेद में स्वयं कहा गया है "भस्मान्तं शरीरम्" अर्थात् यह शरीर अग्नि द्वारा भस्म करने तक है। भस्मान्त करने के पीछे वैदिक धर्म की अवधारणा वैज्ञानिक इसलिए कही जाती है क्योंकि इससे समाधि, स्मारक, मजार, कब्र न बनकर उनकी पूजादि के ढोंग पाखण्ड की

उत्पत्ति व बढ़ावा नहीं होता। थोड़ी सी जगह में अंसख्य शवों का दाह कर्म हो जाता है क्योंकि इसके अभाव में व्यर्थ में जमीन घटेगी अथवा जल में प्रवाह करने से जल दूषित होकर अनेकानेक रोग और वातावरण प्रदूषित होगा। अग्नि का सबसे बड़ा गुण है उसमें सभी क्रीटाणुओं को जलाकर पांचों तत्वों - पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि में उनका निर्धारित भाग स्वाभाविक रूप से बांट देना। शव दाह की वैज्ञानिकता, श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए उसकी उत्तमोत्तम विधि में संस्कार कर्तव्य उचित है।

इस प्रकार वैदिक समाज में सोलह संस्कारों का आदिकाल से लेकर आज तक न्यूनाधिक मात्रा में बड़ी निष्ठा, श्रद्धा एवं कर्तव्य भाव से सम्पादन होता है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि अवश्य ही पढ़नी चाहिए।



GURUKUL KANGRI LIBRARY		
	Signature	Date
Access on	<i>[Signature]</i>	16/3/96
Class on	<i>[Signature]</i>	19/3/96
Cat on	<i>[Signature]</i>	21/3/96
Tag etc	<i>[Signature]</i>	25/3/96
Filing	<i>[Signature]</i>	30/3/96
E.A.R	<i>[Signature]</i>	31/3/96
Any other	<i>[Signature]</i>	25/3/96
Checked	<i>[Signature]</i>	26/3/96

Recommended By *[Signature]* 21/3/96



